

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 11 अंक 4

अप्रैल-जून 2014

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

सलाहकार सम्पादक

कमलेश

आस्था भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपए
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपए
विदेशों में	\$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपए
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपए
विदेशों में	\$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपए
अन्दर कवर	7,500.00 रुपए
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपए
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपए

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए राजेश भार्गव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati1@gmail.com

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. आधुनिकता और परम्परा समदोंग रीपोचे	9
2. अहिंसा और अर्थशास्त्र सुदर्शन आयंगर	36
3. भास के नाटकों में प्रयोग कुड़ियाट्टम और प्रतिमानाटकम् संगीता गुन्देचा	58
4. वेंडी डोनीजर का 'वैकल्पिक' हिन्दू इतिहास शंकर शरण	68
5. आत्मसृजन के आयाम नन्द किशोर आचार्य	80
6. अप्रकाशित आत्मकथा 'बिखरे पन्ने' में से पत्नी (मेरी पत्नी उसके बहाने आज पत्नी) शंकर पुणताम्बेकर	86
7. सामाजिक चेतना और प्रतिबद्धता के मुँहताज निरीह वृद्ध और अनाथ किशोर अपराधी ए. सी. सिन्हा	92
8. हिन्दी कहानी के प्रारंभिक पंद्रह वर्ष : एक गवेषणात्मक दृष्टि पुष्पपाल सिंह	99
चिन्तन-सृजन, वर्ष-11, अंक-4	3

9. 'रेणु' के उपन्यास : पुनर्मूल्यांकन ब्रजकिशोर झा	110
पाठकीय प्रतिक्रिया	110
प्राप्ति-स्वीकार	124

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

सोलहवीं लोक सभा के चुनाव परिणाम कई मायने में आस्वस्तकर रहे हैं। वंशवाद एवं व्यक्तिवाद के प्रतीक बन चुके दलों को लोगों ने या तो नकार दिया या उन्हें हासिए पर ढकेल दिया है। द्रविड़ मुन्नेत्र कजगम (डीएमके), बहुजन समाज पार्टी, नेशनल काँग्रेस तथा कई अन्य छोटे दलों के सदस्य लोक सभा में नहीं दिखेंगे। कुल 44 स्थानों पर विजय पानेवाली कांग्रेस की हैसियत तो अब मान्यता प्राप्त विपक्ष की भी नहीं रह गयी है। 10 राज्यों एवं अधिकांश केन्द्रशासित प्रदेशों से उसका एक भी सांसद चुनकर नहीं आया है। लालू प्रसाद, नीतीश कुमार एवं मुलायम सिंह यादव के दलों के क्रमशः चार, दो एवं चार सदस्य ही संसद में चुनकर आ सके हैं; वामदलों के मात्र 10 सदस्य जीते हैं। पश्चिम बंगाल में, जहा मार्क्सवादियों का 34 सालका लम्बा शासन रहा, केवल दो सांसद ही जीतकर संसद में स्थान पा सके। आजादी के बाद पहली बार कांग्रेस के अलावा किसी अन्य दल को जनता ने पूर्ण बहुमत देकर सरकार बनाने का अवसर दिया। इस चुनाव परिणाम ने अपूर्ण अनिर्णीत जनमत में अपना भविष्य खोजनेवालों को निराश किया है, साथ ही उदारवादी बौद्धिकों को भी। उन बौद्धिकों की परेशानी का जिक्र दिलीप पडगाँवकर ने *टाइम्स आफ इण्डिया* में छपी अपनी चिट्ठी में किया है, जिसे यहाँ उद्धृत करना असमीचीन नहीं होगा।

“गणराज्य के प्रिय पहरदारों - हम बेवकूफ बन गए, चुनाव अभियान के दौरान जो धारणा बनी हुई थी, वह चकनाचूर हो गई। हममें से सभी को स्वतंत्रता, न्याय और बंधुत्व जैसे मूल्यों पर बड़ा भरोसा था, इसलिए इन शब्दों का प्रयोग मतदाताओं को डराने के लिए धड़ल्ले से कर रहे थे। उनके मन में भय पैदा कर रहे थे कि हिन्दू राष्ट्रवादियों के हाथ में देश की कमान जाने से वे मूल्य नष्ट हो जायेंगे। हमारी ये बातें हवा में खोखले तिनके उड़ाने के लिए प्रेरित कर रही थी। और यही हमारी व्याकुलता का कारण भी थी।

“हम मानकर चल रहे थे कि चुनाव के बाद कांग्रेस ऐसी स्थिति में होगी कि वह अगली सरकार बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है। हालांकि, ऐसा नहीं हुआ। हमे यह भी आशा थी कि भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन 250 सीट भी हासिल नहीं कर पाएगी। ऐसी स्थिति में गैर कांग्रेसी, गैर वामपंथी क्षेत्रीय दल एक धर्मनिरपेक्ष सरकार का गठन करेंगे। इस तरह आगामी सरकार में नरेन्द्र मोदी की कोई भूमिका नहीं होगी।

“हम इस लक्ष्य तक पहुंचने के लिए दो कोड़ी की बातों को आधार बना रहे थे। हम यह बताने का मौका कभी नहीं गँवाते थे कि मोदी के पीछे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ है। बार-बार 2002 के गुजरात दंगों की चर्चा करते थे। हम सर्वोच्च न्यायालय की ओर से गठित विशेष जांच दल और अहमदाबादकी निचली अदालत के फैसले (नरेन्द्र

मोदी को क्लीन चिट देने) का मजाक उड़ाते थे। गुजरात के विकास मॉडल में कमियाँ ढूँढते थे। और जब ये सारी कवायदें मोदी को बदनाम करने में सार्थक नहीं हो पायी तो हमने 'स्नूपगेट' को खोज निकाला। इतना सब करने के बाद भी हमारे हाथ विफलता ही आई।

“कांग्रेस का ऐतिहासिक सफाया हो गया। कमोबेश यही स्थिति वामपंथी दलों की भी है। जाति के आधार पर खड़ी पार्टियाँ, जो अपने कंधों पर पंथनिरपेक्षता को ढोती थीं, उनकी हालत भी पतली हो चुकी है। दूसरी ओर भाजपा का 'मिशन 272' पूरा हो गया। यही उसकी दिली इच्छा भी थी। 1952 के बाद पहली बार किसी गैर कांग्रेसी दल को पूर्ण बहुमत मिला। भाजपा को जितनी सीटें मिली हैं, यदि उसमें चुनाव से पहले वाले भाजपा के साथियों को जोड़ा जाए तो राजग अजेय स्थिति में पहुँच जाती है।

“ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि हार की वजह क्या है? इसका सीधा-सा जबाब है। हमने देश का मन पढ़ने में गलती की। हम इस बात का अनुमान नहीं लगा पाए कि संग्रम को लेकर कितना जनक्रोध है। हमें सिर्फ चिंता इस बात को लेकर थी कि कहीं सत्ता सांप्रदायिक ताकतों के हाथ में न चली जाए। इस भय ने हमें घेर लिया था कि हम मतदाताओं की आकांक्षाओं और संग्रम के खराब प्रदर्शन के साथ-साथ कांग्रेस के अप्रत्यक्ष ध्वजधारक राहुल गांधी की कमजोरी को भी नहीं देख पाए।

“इस तरह हम नरेन्द्र मोदी की वह छाप जो मतदाताओं के दिलो-दिमाग में बन गई थी, उसे भी देखने में विफल रहे। मोदी ने हाइटेक मीडिया के रथ पर सवार होकर अपने व्यक्तिगत के इर्द-गिर्द चुनाव अभियान का ताना-बाना बुना। उन्होंने मनमोहन सरकार को लेकर जनता में व्याप्त आक्रोश को साधा। सरकार की विफलता का ठीकरा नेहरू-गांधी परिवार के सिर फोड़ा। साथ ही मतदाताओं को मजबूत नेतृत्व, साफ-सुथरे प्रशासन, सुरक्षा और देश पर गर्व करने वाली चाहत का भरोसा दिया। हम इन बातों को हल्के में लेते रहे। तथाकथित 'मोदी वेब' के बारे में कहते रहे कि यह सब कॉरपोरेट घराने के सहयोग से मीडिया का रचा गया तिलिस्म है। चुनाव परिणाम आने के बाद साफ हो गया कि हम कितने गलत थे। शिक्षा, रोजगार, बेहतर सुविधाएँ और सुशासन लोक-लुभावन वादों से कहीं ज्यादा मायने रखता है।

“इसके बाद भी हम यह सोचकर खुश हैं कि 10 में से सात ने भाजपा को वोट नहीं दिया है। यदि इससे हम खुश हो रहे हैं तो यह हमारे बौद्धिक दिवालियापन से ज्यादा कुछ नहीं है। हमें इस तरह की हरकत करने के बजाए यह जानने की जरूरत है कि हमारे पंथनिरपेक्षता के विचार में क्या कमी है? यह जरूरी भी है। क्योंकि भारत में धर्म और अध्यात्म की लंबी परंपरा होने के बावजूद हम लोगों का व्यवहार और विचार शत्रुतापूर्ण बन गया है। हमारे इस रवैए का मुस्लिम कट्टरपंथ के साथ

घाल-मेल कर दिया गया है। इसलिए हमें अपनी विचारधारा में सुधार लाने की आवश्यकता है।

“साथ ही हमारा आर्थिक सुधार और सेना के आधुनिकीकरण को लेकर जो विरोध रहा है, उस पर भी विचार करने की आवश्यकता है। हमें यह भी समझना चाहिए कि जातिवाद, सांप्रदायिकता, लैंगिक भेदभाव, अतिराष्ट्रवाद और क्षेत्रवाद आवाम के मूलभूत अधिकारों के लिए खतरा हैं। इन्हीं अधिकारों की नींव पर हमारे गणराज्य का भवन खड़ा है। और हम इसके सजग पहरेदार हैं।”

दिलीप पडगाँवकर की चिट्ठी हमारे बौद्धिकों की मानसिक जकड़न, उनपर पड़ते रहे उपनिवेशवादी मार्क्सवादी मिथकों के प्रभाव को उद्घाटित करती है। जनता ने उन मिथकों को तोड़ा है, उनसे मुक्त हुयी है। प्रश्न है कि क्या कांग्रेस भी अपने ऊपर लादे गये वंशवादी जकड़न एवं अदूरदर्शी - चापलूस दरवारी संस्कृति से छुटकारा पा सकेगी?

अन्यतः इस देश ने सत्ता की बागडोर नरेन्द्र मोदी को सौंप दी है। समस्याएँ बहु-आयामी हैं; लोगों की अपेक्षाएँ बढ़ी हुई हैं। लेकिन वे पार पायेंगे, इसमें सन्देह नहीं। देश में अच्छे दिन अवश्य आयेंगे।

ब्रज बिहारी कुमार

आधुनिकता और परम्परा

समदोंग रीपोचे*

आप सभी मित्रों से मैं एक बात कहना चाहता हूँ। मेरे मित्रों को मेरे बारे में एक गलतफहमी है कि मैं बहुत कुछ जानता हूँ। जबकि ऐसा नहीं है। सम्भवतः चालीस प्रतिशत ज्ञान से बोलता होऊँगा बाकी साठ प्रतिशत तो सूचनाएँ हैं, जानकारी है। सूचनाएँ सुनीं और बोल दिया, इसे ज्ञान नहीं कहते। पवन जी 'जानना' और 'मानना' में बहुत भेद करते हैं। ये बहुत प्रामाणिक भेद हैं। हम लोग जानते बहुत कम हैं, अधिकांश तो माना हुआ ही रहता है और उस पर ये दावा भी करते हैं कि हम तार्किक हैं, अन्धविश्वासी नहीं हैं।

मैंने अपने प्रारम्भिक 12 वर्ष एक स्वाधीन देश के स्वाधीन नागरिक की हैसियत से जिए हैं। स्वाधीनता क्या होती? एक राष्ट्र की स्वन्त्रता क्या होती है, इसका मैंने अनुभव किया है। 1959 में जब हम लोग शरणार्थी होकर भारत आए तो कई लोग कहते थे आप लोग पिछड़े हुए थे, अशिक्षित थे, अविकसित थे, अपना आधुनिकीकरण नहीं कर पाए, इसीलिए चीन आपके देश पर कब्जा कर सका। ऐसा सुनकर हमें भी लगता कि शायद हमारा ही दोष हो। लेकिन इससे मन में दो प्रश्न उठे, एक यदि हम अशिक्षित हैं तो अभी तक जो हमने शास्त्रों का अध्ययन किया है, क्या वह बेकार है। दो तिब्बत प्राचीन काल से चीन, रूस, मंगोलिया और भारत जैसे बड़े, सैनिक और आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली देशों का पड़ोसी रहा है। तिब्बत की सैनिक शक्ति कम थी, आर्थिक शक्ति कम थी, हालाँकि हम लोग स्वाबलम्बी थे, कोई भोजन और आवास के लिए तरसता नहीं था। चीन की नजर लगातार तिब्बत पर बनी रहती थी, बीच-बीच में तंग भी करते थे, बीच-बीच में समझौता भी करते रहे, लेकिन तिब्बत

* समदोंग रीपोचे, पूर्व कुलपति, उच्च तिब्बती अध्ययन संस्थान, सारनाथ; पूर्व अध्यक्ष, भारतीय विश्वविद्यालयों का संगठन; भारत में निर्वासित तिब्बती सरकार के पूर्व प्रधान मंत्री; प्रकाण्ड विद्वान, चिन्तक एवं मनीषी हैं। मेरे एवं पवन कुमार गुप्त के आग्रह पर उनसे प्राप्त आधुनिकता, परम्परा एवं शिक्षा पर उनके विमर्श का सार-संक्षेप इस लेख में दिया गया है संपादक।

को अपने में मिलाने की बात नहीं की। एक समय सर्वशक्तिमान ब्रिटिश साम्राज्य ने हमें सैनिक दृष्टि से पराजित भी किया इसके बावजूद हमें एक सम्प्रभु देश माना और इससे समझौता किया, कब्जा नहीं किया। लेकिन माओत्से तुंग का शासन शुरू होते ही उनकी सर्वोच्च प्राथमिकता तिब्बत पर कब्जा करने की हो गई। ऐसा क्यों? आठवीं सदी से बीसवीं सदी तक हम अपने से शक्तिशाली पड़ोसियों के साथ बराबरी के आधार पर रहे। 20वीं सदी में ही ऐसा क्यों हुआ?

भारत में आने के बाद महात्मा गाँधी की आत्मकथा पढ़ने को मिली। उसमें से कुछ नई सूचनाएँ/जानकारी मिली। विशेष रूप से राजनैतिक संघर्ष में अहिंसा का किस तरह से प्रयोग किया जाए। और परम्परा और आधुनिकता के भेद के बारे में भी कुछ पता चला। इससे कुछ सोच बनने लगी। ये समझ में आया कि तिब्बत की परतन्त्रता के पीछे हमारा तथाकथित पिछड़ापन या अशिक्षा नहीं है। क्योंकि ऐसे पिछड़े और अशिक्षित तो हम आठवीं सदी से ही थे। चीन भी राजतन्त्र से तथाकथित प्रजातन्त्र और प्रजातन्त्र से साम्यवादी शासन में बदला तो इन सबके पीछे कोई व्यापक मूल कारण होना चाहिए। और यह मूल आधुनिक सभ्यता की सोच और उससे निकली प्रक्रिया है। ये भी समझ में आया कि यदि हम पहले ही आधुनिक या एजुकटेड हो जाते तो सम्भवतः ब्रिटेन ही हम पर कब्जा कर लेता, या उससे पहले चीन ही। क्योंकि तब हमारे यहाँ उनके अनुकूल व्यवस्थाएँ बन चुकी होतीं। ब्रिटेन को हम पर राज करने में कुछ असुविधा लगी होगी, तभी वह हमें छोड़कर चला गया।

आज से 20-25 साल पहले जब मैंने गाँधी जी की 'हिन्द-स्वराज' को पहली बार पढ़ा, तो मेरी समझ में नहीं आया। हालाँकि मुझे यह तो नहीं लगा कि गाँधीजी कुछ गलत कह रहे हैं, लेकिन गाँधीजी सम्पूर्ण आधुनिक सभ्यता को क्यों नकार रहे हैं, यह मेरी समझ में नहीं आया। उस समय मेरे विचार कुछ अलग थे। उस समय मैं मानता था कि पाश्चात्य सभ्यता हमारे लिए अच्छी है, लेकिन हम अपनी सभ्यता में भी कुछ आधुनिकता ला सकते हैं और पाश्चात्य सभ्यता की कुछ बातें हमारे लिए कल्याणकारी हो सकती हैं, ऐसा मैं मानता था। इसलिए गाँधीजी की यह धारणा मुझे समझ में नहीं आई। उसके बाद मुझे विश्व के अतिविकसित देशों को देखने का मौका मिला। और अति पिछड़े देशों, जिसे तीसरी दुनिया का कहा जाता है, को भी मैंने प्रत्यक्ष देखा। यह सब देखने-परखने के बाद मुझे समझ में आया कि गाँधीजी बिल्कुल सही कहते थे।

आधुनिकता की वजह से दुनिया में जाने-अनजाने, प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ, युद्ध व हिंसा के लम्बे दौर चले। लोगों ने इसके पीछे के मूल कारणों को जाना नहीं। जब तक महात्मा गाँधी ने आधुनिकता के दोषों को उजागर नहीं किया तब तक लोग आधुनिकता के दोषों को पहचान नहीं सके। गाँधीजी से पहले भी बहुत से लोगों ने आधुनिकता को नकारा है। लेकिन उनका नकारना या तो

सांस्कृतिक दृष्टि से या आध्यात्मिक दृष्टि से ही था। लेकिन वे लोग आधुनिकता को सम्पूर्ण जगत की जीवन्त प्रणाली, जीवन-शैली के ऊपर खतरे या बड़ी चुनौती के रूप में नहीं पहचान पाए। केवल गाँधीजी आधुनिकता को इस रूप में पहचान पाए। गाँधीजी ने आधुनिकता को सम्पूर्ण जीव-जगत के अस्तित्व के खतरे के रूप में पहचाना। लेकिन गाँधीजी के कथन को बहुत कम लोग समझ सके।

बहुत बड़े माने जाने वाले विद्वान लोग, जिन्होंने गाँधीजी के ऊपर बहुत लिखा है, भी यह कहते पाए जाते हैं कि "हिन्द स्वराज" को शब्दशः नहीं लेना चाहिए। इन विद्वानों के अनुसार "हिन्द स्वराज" विशेष परिस्थिति में, विशेष उद्देश्य के साथ, विशेष श्रोताओं के लिए लिखा गया है। अतः "हिन्द स्वराज" को उसी परिप्रेक्ष्य में लेना चाहिए। यहाँ तक कि उनके कई निकट सहयोगी भी इसे अप्रासंगिक मानते थे। गाँधीजी ने 105 वर्ष पहले इस सत्य को लोगों के सामने रखने की चेष्टा की। लेकिन ऐसा लगता है कि उनकी सरल भाषा के कारण लोग इसे समझ नहीं पाए।

आपको याद होगा कि गाँधीजी ने 'हिन्द स्वराज' में कहा है कि इस आधुनिक सभ्यता का हूबहू चित्रण नहीं किया जा सकता। यह इतनी प्रपंचपूर्ण है कि इसकी परिभाषा आसान नहीं। मेरे ख्याल से जो काम गाँधीजी के लिए मुश्किल था वह हमारे लिए भी होगा ही। इसका एक कारण और भी है कि आधुनिक लोगों के साथ मेरा संवाद होना मुश्किल होता है क्योंकि मैं 7वीं सदी की सभ्यता में जीता हूँ, उसी दृष्टि से सोचता हूँ, उसी दृष्टि से बोलता हूँ। इस कारण बिना कुछ कहे भी एक पक्ष बन जाता है। इसलिए खुले मन से कुछ बोलना मेरे लिए कठिन है। लेकिन ऐसा भी नहीं है कि कोई तथ्य को, हेतु को, लक्षण को, यदि तार्किक दृष्टि से सही लगता हो, तो हम उसे नहीं मानेंगे। ऐसा स्वयं बुद्ध ने भी कहा है कि कोई तथ्य सिर्फ इसलिए नहीं मानना चाहिए कि वह बुद्ध ने कहा है, बल्कि स्वयं के आधार पर समझकर मानना चाहिए। इसके बावजूद दृष्टिकोण समान न होने पर संवाद होना कठिन होता है। फिर भी खुद को समझाने के लिए मैंने पाँच-छह बिन्दुओं के आधार पर परम्परा और आधुनिकता में भेद किया है।

समाज बनाम व्यक्ति : परम्परा में समाज अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था, व्यक्ति को कम। परम्परा में इस सिद्धान्त का बहुत महत्त्व था कि यदि समाज के हित के लिए व्यक्ति को कुछ त्याग भी करना पड़े तो करना चाहिए। जबकि आधुनिक सभ्यता में व्यक्ति अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। इस (आधुनिक) सभ्यता में व्यक्ति के अधिकार के लिए यदि समाज को नुकसान भी उठाना पड़े तो उठाना चाहिए, ऐसा सोचा जाता है। यदि आधुनिक व्यक्ति को देखें तो वह 'अपने हित के लिए' और यह 'अपना हित' भी कई स्तरों का है, राष्ट्र से लेकर स्वयं तक से ही संचालित है। अगर हम राष्ट्र के स्तर पर देखें तो अपना राष्ट्र हर वक्त, हर स्तर पर सही है और दूसरा गलत है और हमारा प्रतिद्वन्द्वी। आज की राष्ट्रभक्ति के हिसाब से अपने राष्ट्र को

अन्य राष्ट्रों के मुकाबले अधिक सही मानते हैं। न्याय के आधार पर मूल्यांकन नहीं होता। यदि दो राष्ट्रों के बीच युद्ध हो जाए तो, कसूर किसका है इस पर कोई विचार नहीं करेगा बल्कि दूसरे राष्ट्र को दोषी बताने पर ही जोर रहता है। जैसे आजकल भारत-पाकिस्तान के सन्दर्भ में देखा जा सकता है। कोई भी मसला हो पाकिस्तान वाले हिन्दुस्तान पर और हिन्दुस्तान वाले पाकिस्तान पर दोषारोपण करते हैं। फिर यही क्रम नगर के स्तर पर, जनपद के स्तर पर, कुटुम्ब के स्तर पर, परिवार के स्तर पर भी देखा जाता है। परिवार में यदि दो भाइयों में विवाद हो जाए तो दोनों अपने-अपने हितों पर अधिक जोर देते हैं, एक-दूसरे के लिए कुछ बलिदान करना अब सोचा भी नहीं जा सकता है।

कर्तव्य बनाम अधिकार : परम्परा में कर्तव्य की बात होती है, अधिकार की नहीं। आज इसके ठीक विपरीत हो रहा है। सभी अधिकार की बात करते हैं, कर्तव्य की नहीं। संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी 'मानवाधिकार' का घोषणा-पत्र जारी किया है। मानव-कर्तव्य का घोषणा-पत्र कहीं नहीं है और उसकी बात भी नहीं की जाती। समाज के स्तर पर, विधि-विधान के स्तर पर, कर्तव्य की बात कहीं नहीं है। संविधानों में भी यही देखा जाता है। संविधान में मूलभूत अधिकार पर विस्तृत अध्याय होता है, जबकि मूलभूत कर्तव्य का अध्याय या तो होता ही नहीं या बहुत ही संक्षिप्त होता है। भारत के संविधान में भी वह बाद में जोड़ा गया, मूल में नहीं था। जबकि यह बहुत सहज समझ आने वाली बात है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्य को ठीक से निभा ले तो किसी के अधिकार-हनन का प्रश्न उठता ही नहीं। इस तरह से अधिकार और कर्तव्य में से प्राथमिकता तय करने के दृष्टिकोण में भी आधुनिकता और परम्परा में अन्तर दिखाई देता है।

चित्त बनाम काया : उपरोक्त दो अन्तर तो समाज के स्तर पर हैं। लेकिन यह अन्तर समाज व व्यक्ति दोनों के स्तर जिसे गाँधीजी ने बहुत महत्त्व दिया है पर दिखता है चित्त और काया या शरीर और मन का भेद। आधुनिक सभ्यता में शरीर की सुविधा को अधिक महत्त्व दिया गया है जबकि परम्परागत सभ्यता में मन की शान्ति अथवा मन के शोधन को बहुत महत्त्व दिया गया है। सुख की इच्छा रखना या दुःख निवारण की इच्छा रखना ये समस्त प्राणियों का स्वभाव है। कोई भी प्राणी दुःख नहीं चाहता, सब सुख ही चाहते हैं। मनुष्य को श्रेष्ठ प्राणी माना जाता है क्योंकि उसमें विवेक है। यही विवेक उसमें अन्य प्राणियों, पशु-पक्षी में अन्तर करता है। क्या अन्तर करता है? यही कि पशु-पक्षी भी सुख चाहते हैं, दुःख नहीं चाहते। लेकिन सुख का साधन क्या है? दुःख का कारण क्या है? इसको वे नहीं जान पाते। वे सुख के साधन का सम्पादन करना या दुःख के कारण का निवारण करना नहीं जानते। मनुष्य यह सब जानता है, ऐसा सोचा गया है। मनुष्य अपने विवेक से सुख की साधना और दुःख निवारण करता है, ऐसा माना गया है। लेकिन जब मनुष्य दुःख निवारण करने लगता

है तो शारीरिक असुविधाओं को ही दुःख का कारण मान लेता है। मन की अशान्ति दुःख का कारण नहीं है, इसलिए इसे समझने की आवश्यकता भी नहीं है, ऐसा समझने वाला मनुष्य आधुनिक सभ्यता में अधिक हुआ है। आधुनिक सभ्यता का सारा जोर भौतिक व शारीरिक सुख-सुविधाओं को जुटाने पर है। उसमें मन पर विचार नहीं किया गया न ही इस प्रकार का प्रयास किया गया है।

सहजता बनाम कृत्रिमता : परम्परा मनुष्य को सहजता में जीने की शिक्षा देती है। परम्परा में ऐसी शिक्षा दी जाती थी कि जहाँ तक हो सके मनुष्य सहजता से जीए, अपने स्वभाव में रहे। जब मनुष्य सहजता में रहता है तो प्रकृति के साथ उसका सम्बन्ध बिगड़ता नहीं है, समन्वय रहता है। आधुनिक सभ्यता ने मनुष्य को कृत्रिम ढंग से जीने की आदत डाल दी है। अतः स्वभाव जैसा है, वैसा दिखाता नहीं, दिखाना नहीं चाहता। बाल काटने का तरीका, कपड़े पहनने का तरीका, इत्यादि हर बात में कृत्रिमता आ जाती है। यह कृत्रिमता कायिक, वाचिक, मानसिक तीनों स्तरों में आ जाती है, जिसे किसी विद्वान ने 'स्थिति व गति' में तालमेल न होना कहा था। जैसी स्थिति होती है यदि गति भी वैसी हो तो कृत्रिमता नहीं आती। आप जैसे हैं वैसा ही प्रस्तुत हों यह सहजता है। और आप जैसे हैं वैसा लोग न देखें, बल्कि जैसे नहीं हैं वैसे दिखने/दिखाने का प्रयास करें, यह कृत्रिमता है। यह आधुनिकता का एक लक्षण है। इसमें मनुष्य सहज नहीं रह सकता। स्वयं को तार्किक होने का दावा करना और साथ ही अन्धविश्वासी होना, ये आधुनिकता का एक विशेष गुण (या दोष) है। आधुनिक शिक्षित लोग स्वयं को तार्किक मानते हैं, लेकिन वास्तविक तर्क विद्या का उनको पता नहीं होता। परम्परा में तर्क के तीन स्तर होते हैं तथ्य, हेतु और लक्षण। आज जिसे तर्क कहते हैं उससे सिर्फ हेतु को देखा जाता है। पश्चिम वालों ने आंशिक रूप से जिस 'हेतु विद्या' को उत्पन्न किया है, उसी से वे अपना काम चलाते हैं। उसमें भी जिसे वे हेतु समझते हैं वह सामयिक नहीं होता, आभासी होता है। परम्परा में सिर्फ हेतु ही नहीं तथ्य और लक्षण को भी तार्किक दृष्टि से देखा जाता है।

विभिन्नता बनाम एकरूपता : इससे आगे चलें तो आधुनिकता में एकरूपता का आग्रह है। आधुनिकता में किसी प्रकार की विभिन्नता चाहे भाषा को लें, संस्कृति को लें, चाहे वेश-भूषा या अन्य क्षेत्र को सहन नहीं किया जाता। वैश्वीकरण का इतना ही अर्थ है कि सारे संसार में लोग एक ही ढंग से जीएँ। बच्चों को स्कूल जाना होता है तो एक ही ढंग से वस्त्र, एक ढंग से बाल कटवाने होते हैं, एक ही ढंग के जूते-मोजे आदि पहनने होते हैं। इसमें व्यक्तित्व और व्यक्तिगत विशेषता की बात भूला दी जाती है। इसे ही अंग्रेजी में 'यूनिफार्मलाइजेशन' कहा जाता है। इसमें मनुष्य के मूल स्वभाव और उसकी व्यक्तिगत विशेषता को छिपा दिया जाता है या दबा दिया जाता है और सबको एक जैसा बनाने की चेष्टा की जाती है।

हालाँकि इस विश्व में लगभग 700 करोड़ लोग रहते हैं। इन 700 करोड़ में से कोई भी दो व्यक्ति पूर्णतः एकदम एक जैसे नहीं होते। यहाँ तक कि जुड़वा बच्चे भी बहुत कुछ एक जैसे होने पर भी वे अलग-अलग पहचाने जाते हैं। इससे क्या परिलक्षित होता है? यही कि 700 करोड़ लोगों का अपना-अपना व्यक्तित्व होता है इसे एक जैसा नहीं बनाया सकता। यह एक जैसा बनाने की चेष्टा ही कृत्रिमता है। इसमें सहजता नहीं है।

समन्वय बनाम प्रतिस्पर्धा : वैचारिक दृष्टि से देखा जाए तो आधुनिक दृष्टिकोण में हर ईकाई को तुलनात्मक, प्रतिस्पर्धा और संघर्ष में देखा जाता है, जबकि परम्परा में हर ईकाई के मूल में परस्पर सहयोग और समन्वय का दृष्टिकोण मान्य है। आधुनिक सभ्यता द्वन्द्वमूलक है। और द्वन्द्व से कोई सकारात्मक परिणाम नहीं आता यह प्रकृति का नियम है। दो पत्थरों को साथ रखने से दीवार बन सकती है, मकान भी बन सकता है। लेकिन यदि दो पत्थर आपस में टकराते रहे, द्वन्द्वात्मक संघर्ष करते रहें, तो दोनों पत्थर या तो टूट जाएँगे या घिस जाएँगे। आधुनिक सभ्यता और परम्परागत सभ्यता का मूल दृष्टिभेद यही है। इसके थोड़ा पीछे जाएँ। विज्ञान और प्रौद्योगिकी का विकास पश्चिमी देशों में हुआ। अधिक-से-अधिक 250 वर्ष पहले की यह बात है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास से एक नई बात मनुष्य के सामने आई, वह यह कि मनुष्य की आवश्यकता से अधिक सामग्री का उत्पादन होने लगा। इससे पहले मनुष्य हाथ से श्रम करके उतना ही उत्पादन करता था जितना उसकी आवश्यकता होती थी। जब आवश्यकता से अधिक वस्तु उत्पादन होगा तो वह बेकार तो जाएगी नहीं, चूँकि उसमें पूँजी लगी है। इसलिए उसकी खपत होना उत्पादकों के लिए आवश्यक हुआ। सोच-विचारकर शोध किया गया। शोध में यह पाया कि मनुष्य में जो लोभ है, उसका बहुत सरलता से शोषण किया जा सकता है। उसके लिए जो सबसे सरल उपाय है वह है 'तुलना' और 'स्पर्धा'।

मनुष्य को स्व के आधार पर समझने न दिया जाए, हर चीज तुलना के आधार पर समझने की आदत शिक्षा के माध्यम से या अन्य माध्यमों समाचार, सामाजिक संरचना से डाली जाए। तुलना का आधार अपने अन्दर न होकर बाहर हो गया और यह आधार (बाजार द्वारा) गढ़ा जाता है। तुलना करने से स्पर्धा की भावना स्वयं ही आ जाती है। मेरे पास एक जोड़ी जूता है जबकि पड़ोसी के पास दस जोड़ी क्यों हैं। मैं उससे कम तो नहीं हूँ इसलिए मेरे पास भी होना चाहिए। और इस तरह से तुलना और स्पर्धा करने की मानसिकता समाज में व्याप्त कर दी गई और उत्पादन के माध्यमों से पूँजीवाद का सिद्धान्त, या कहें कुचक्र, चालू हुआ। इससे कृषकों और मजदूरों का बहुत शोषण होने लगा। शोषण से पूँजीपतियों के प्रति द्वेष पैदा हुआ, जिसके परिणाम में मार्क्सवाद या समाजवाद पैदा हुआ। यदि पूँजीवाद पैदा नहीं होता तो मार्क्सवाद भी नहीं होता।

मार्क्सवाद किसी खोज का परिणाम नहीं था बल्कि प्रतिक्रिया का परिणाम था। तथ्य की खोज से यदि कुछ मिलता है तो सही-सही मिलता है। किसी प्रणाली या कार्य की प्रतिक्रिया में या द्वेष के कारण यदि कुछ खोजते हैं तो त्रुटिपूर्ण मिलता है। मार्क्स ने जगत की व्याख्या यह रखी कि सब जगत द्वन्द्व है और द्वन्द्व से नई चीज उत्पन्न होती है तो उनकी दृष्टि में यदि कोई बीज है वह अपने-आप में निष्क्रिय है। जब उसके साथ मिट्टी, खाद, पानी मिलते हैं तो इसे सबमें द्वन्द्व उत्पन्न होता है, जिसके फलस्वरूप बीज का स्वरूप नष्ट हो जाता है और एक नई चीज-अंकुर-उत्पन्न होता है। ऐसा उन्होंने सोचा और इसको शब्द दिया 'थीसीस, एंटीथीसीस, सिंथेसिस'। और आगे जाकर इसे वर्ग-संघर्ष कहा। और संघर्ष को इतनी दूर ले गए कि आज तक इसका अन्त दिखाई नहीं देता, भले ही मार्क्सवाद खत्म हो गया। सब जगह पूँजीवाद ही रह गया है।

बीज का अंकुरण द्वन्द्व का नहीं बल्कि सहयोग और समन्वय का परिणाम है। जब बीज को खाद, पानी, दूध, हवा मिलती है तो इन सबमें एक समन्वय होता है तो बीज का विकास अंकुर के रूप में होता है। ऐसा हमारी परम्परा की दृष्टि है। लगभग सभी भारतीय दर्शन-पद्धति और धर्म-पद्धति में इसे सहयोग मानेंगे, द्वन्द्व नहीं। और सहयोग से सकारात्मक परिणाम आते हैं, यह हमारा दृष्टिकोण है।

मेरे अनुसार आधुनिकता और परम्परा में मूल भेद के यही 6 लक्षण हैं। यह मेरा अपना दृष्टिकोण है, जिसे मानने के लिए आप बाध्य नहीं हैं। लेकिन हम कैसे देखते हैं, वह मैं आपके सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ। एक तरह से यह कहा जाना ठीक होगा कि आधुनिकता में कुछ भी आधुनिक नहीं है। अधिकांश समाजों में पहले से कुछ व्यवस्थाएँ थीं, मान्यताएँ थीं और कुछ प्राथमिकताएँ थीं, आधुनिकता ने केवल उन्हें उलट दिया है। जो मानव स्वभाव में सहज था उसे उलटकर कह दिया कि ये नया है। इसी उलटे हुए क्रम को आधुनिकता कह दिया गया है।

आधुनिकता के लक्षणों को सरण सर (प्रोफेसर ए.के. सरण) ने बहुत अच्छे ढंग से संप्रेषित किया है। उनका प्रथम ग्रन्थ है "The Tradition Thought-" उसकी भूमिका में लिखा गया है "Novelty, Self-grounding, Violence is synonymous to Modernity".

Novelty अर्थात् एकदम नयापन होना चाहिए। मेरे पहनावे में, बोलने में, व्यवहार में, मेरे द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली वस्तु में इस हद तक नवीनता होनी चाहिए कि न केवल बाकी अन्य से बिल्कुल भिन्न दिखे बल्कि उसका स्रोत भी मैं ही लूँ न कि प्रकृति अथवा कोई परम्परा। वह कहीं से आया नहीं है यानी उसका संबंध पहले से हुई किसी प्रक्रिया या वस्तु से नहीं है। 'Novelty' होने के प्रयास में पाँव के नीचे कहीं जमीन बचती नहीं है। यदि पाँव जमीन पर टिके हैं तो वह Novelty नहीं मानी जाएगी क्योंकि जमीन तो पुरानी है, इससे नएपन को खतरा होगा। अतः अपने

कन्धे पर खड़ा होना पड़ता है। यही 'Self-grounding' है। Self-grounding अर्थात् उसको Grounding करने के लिए खड़े होने के लिए कोई स्रोत की आवश्यकता नहीं है। किसी परम्परा या प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। एक पौधे को उगने के लिए बहुत-सी चीजों का साथ चाहिए, और वह उन्हीं के सहयोग से उसी वातावरण में फलते-फूलते हैं और फिर समाप्त भी होते हैं। लेकिन आधुनिकता में कोई चीज मानो आकाश में पैदा हो और यह नवीनता केवल और केवल अपने ही कन्धे पर टिकी है। और इन दोनों स्थितियों को प्राप्त करने के लिए हिंसा Violence का होना स्वभाविक हो जाता है। या तो शोषण होगा या हिंसा होगी। प्रत्यक्ष रूप से। यही modernity है।

आधुनिकता कहाँ से शुरू हुई? एक बार उसे भी समझने की जरूरत है। आधुनिकता को लाने में शिक्षा, राजनीति और धर्म का कोई खास योगदान नहीं रहा है, बल्कि इसमें थोड़ा-बहुत विज्ञान ने और खासकर प्रौद्योगिकी ने अपनी भूमिका निभाई है। यदि हम विचार करें तो पाते हैं कि इसने मनुष्य को आवश्यकता से अधिक चीजों को उत्पादित करने की शक्ति दे दी है। उदाहरण के लिए, जिस एक जोड़ी जूते को दिन-भर में एक व्यक्ति तैयार करता था। आज वही व्यक्ति मशीन की सहायता से एक घण्टे में 10 जोड़ी जूते तैयार कर लेता है। अब इस जूते को कहाँ खपाया जाए? इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए मनुष्य के भीतर लोभ की प्रवृत्ति को पैदा करने की कोशिश हुई। इसके लिए कृत्रिम रूप से भय और आशा का भाव जगाने की कोशिश हुई। बाजार में एक पंक्ति लिखी हुई अक्सर दिख जाती है 'वस्तु में छूट है, आज नहीं तो कभी नहीं।' ऐसा कहकर एक तरफ तो छूट का लोभ पैदा किया जाता है साथ ही भय का वातावरण बनाने की कोशिश होती है कि यह वस्तु अब मिलने वाली नहीं है। इससे लोगों के मन में भय घर कर जाता है और वे उस वस्तु को खरीदने को मजबूर हो जाते हैं। यदि गौर से देखा जाए तो समझ में आता है कि बाजार ने मानव प्रकृति पर गहराई से शोध किया और उसकी कमजोरी का फायदा उठाया ताकि अधिक-से-अधिक शोषण किया जा सके।

आधुनिक विज्ञान के शुरुआती दौर में जरूर कुछेक लोगों ने तटस्थ मन से बाह्य वस्तु के सत्य की खोज में मानव हित देखा होगा पर, आज जितने शोध हो रहे हैं, उनके नतीजे पहले से ही निर्धारित कर लिए जा रहे हैं। मैं यह नहीं कहना चाहूँगा कि आधुनिक विज्ञान के लोगों ने वस्तु की खोज सत्यनिष्ठा के साथ नहीं किया होगा, पर वर्तमान परिस्थिति में वे जो कर रहे हैं उसमें पहले ही 'लाभ' जुड़ जाता है। आज यह सोच सभी क्षेत्रों में है। शिक्षा के क्षेत्र में पूछा जाता है कि क्या इससे नौकरी मिलेगी? आज शिक्षित होने से पहले ही तय कर लिया जाता है कि शिक्षा प्राप्त करने के बाद नौकरी ही करेंगे। मालिक नहीं बनेंगे। ये बिन्दु आज तय हैं। आज सभी चीजों की खोज इस प्रश्न पर आकर खत्म होते हैं कि इससे 'अर्थ लाभ' क्या होगा?

आधुनिकता ने आज हमारे सामने ऐसी कुछ चुनौतियाँ खड़ी कर दी हैं। इनके आधार पर हम कह सकते हैं कि यदि इनका ठीक से सामना नहीं हुआ तो मनुष्य ही नहीं, धरती का अस्तित्व ही संकट में आ जाएगा। **इसमें पहली चुनौती है हिंसा की** संक्षेप में हिंसा आज एक बहुत बड़ी चुनौती है। युद्ध के रूप में, आतंकवाद के रूप में। और संरचनात्मक हिंसा, जिसे हम देख नहीं पाते, समझ नहीं पाते, की जो वृद्धि है, जो व्यापकता है, वह बहुत भयावह है। लेकिन स्थिति कुछ ऐसी हो गई है कि जब तक हमारे ऊपर कोई हिंसा नहीं आए तब तक हम हिंसा रोकने की इच्छा नहीं रखते हैं। क्योंकि आज ये बाजार बन गया है। युद्ध या युद्ध की सम्भावना बनाए रखना आज के बाजार के लिए आवश्यक हो गया है। वियतनाम का उदाहरण हमारे सामने है ही। आज जितनी भी लड़ाइयाँ हो रही हैं, उनका कोई कारण नहीं है। उसके पीछे हारना/जीतना कोई उद्देश्य भी नहीं है। चाहे इराक, अफगानिस्तान को ले लें। आजकल प्रजा के आन्दोलन भी हिंसक होते जा रहे हैं। इन सबके पीछे केवल व्यापार है। कुल मिलाकर आजकल समस्या को बाजार बनाने की रीति चल गई है। हम आज हिंसा का व्यापक रूप देख नहीं पा रहे हैं। एक किताब है "When corporate rule the world"। इसमें बताया गया है कि जब कॉर्पोरेट इस दुनिया को चलाएँगे तब क्या परिस्थितियाँ होंगी। आज कुल मिलाकर 10-12 घराने इस विश्व को संचालित कर रहे हैं। यह जो तथाकथित सरकार, शासन, राजनीतिक दल हैं, ये सब कठपुतलियाँ हैं। इन सबके धागे कहीं और से ही खींचे जा रहे हैं। ये मेरी परिकल्पना नहीं है। ये ऐसे तथ्य हैं जो शोध से प्रमाणित हुए हैं। लोकतन्त्र, प्रजातन्त्र, समता, न्याय ये सब बातें हैं, इन बातों का कोई अर्थ नहीं है। आज समस्त जगत लोकतन्त्र से नहीं दलतन्त्र से चल रहा है। दल का हित सर्वोपरी है, देश का हित कुछ नहीं है। और दल, अर्थ-तन्त्र से चलते हैं। तो यथार्थ यह है आज सारा जगत मात्र अर्थ-तन्त्र से संचालित हो रहा है। वह भी बाजारू पद्धति से। Market economy, *कंचूमरिस्टिक सिस्टम* जिसे कहा जाता है। इसलिए कोई भी मूल्य, मूल्य नहीं है। द्रव्य के अतिरिक्त आज कोई भी मूल्य नहीं रह गया। एक बार आस्ट्रेलिया में एक अंग्रेजी का समाचार-पत्र पढ़ रहा था। उसमें एक शिक्षक ने लिखा था, मैं उसे कभी भूल नहीं पाता Never mind human rights, money matters. ये बिल्कुल सही बात है कि आज मानव अधिकार का कोई महत्त्व नहीं है, केवल डॉलर का महत्त्व है। एक डॉलर कमाने के लिए आप यदि दस व्यक्तियों को मारते हैं तो बुरा क्या है? हम कमा रहे हैं, कमाने का हमको अधिकार है। विध्वंसक हथियार का जो उत्पादन करते हैं, वे आज सबसे बड़े उद्योग हैं। इन्हीं उद्योगों के माध्यम से चुनाव जीते-हारे जाते हैं। जब इनकी सहायता से कोई जीत जाता है तो उसका एकमात्र कर्तव्य होता है कि हथियारों के बाजार का विस्तार हो। और हथियारों के बाजार के विस्तार के लिए युद्ध, लगातार युद्ध की सम्भावना और आतंकवाद जरूरी है। इसके अलावा और क्या तरीका हो सकता है हथियारों के बाजार

के विस्तार का। जब हथियार का उपयोग होगा तभी तो उसके बाजार का विस्तार होगा। वियतनाम का युद्ध हमें स्पष्ट रूप से याद है। यह युद्ध 18-19 वर्ष चला। यदि वे जीतना चाहते तो एक दिन में जीत सकते थे और यदि युद्ध छोड़ना चाहते तो छोड़ सकते थे। लेकिन उन्हें हारना या जीतना नहीं था, केवल युद्ध बनाए रखना था। अफगानिस्तान, ईरान, सीरिया में जो युद्ध की सम्भावना बनी हुई है। इसके अलावा आतंकवाद है, इन सबके माध्यम से हथियारों को बाजार बनाए रखना है। इस बाजार को बनाए रखने के लिए यदि कुछ हजार या लाख लोगों का कत्ल भी करना पड़े तो कोई बुरी बात नहीं है। क्योंकि इससे इतना बड़ा बाजार बनता है। यहाँ तक कि कुछ जनसंख्या कम भी हो जाएगी, इस ढंग से भी सोचते हैं। इसलिए हमारे जीवन का कोई अर्थ नहीं है, कोई मूल्य नहीं है। एक पिस्तौल की गोली बराबर भी नहीं। एक रिवाल्वर की गोली न चले जो नुकसान होता है। उसके चलने से यदि एक व्यक्ति की जान चली गई तो क्या, एक गोली का Consumption (उपभोग) तो हो गया और उसके बदले एक नई गोली का बाजार बनेगा। आज यही यथार्थ है। और इस यथार्थ को बनाए रखने के लिए जो सही दिशा में सोचने वाले हैं, मानव अधिकारों और मूल्यों की बात करने वालों को, सिर नहीं उठाने देना चाहिए। उन पर इस तरह का विचार थोप देना चाहिए कि अब कुछ नहीं हो सकता, यह तो ऐसे ही चलेगा, हम सब विवश हैं। ऐसे में फिर वही बात आ जाती है कि हमें तो जीना है, अतः कुछ समझौता कर लेते हैं। कुछ ऐसे लोग भी हैं जो कहते हैं कि ठीक है कि पृथ्वी खत्म हो सकती है लेकिन चिन्ता की बात नहीं है, क्योंकि यह हमारे जीवन-काल में नहीं होगा। इससे अधिक गैर-जिम्मेदाराना सोच नहीं हो सकती। यह आधुनिक सोच का प्रतीक है कि हम जब तक जीवित हैं तब तक ठीक रहें।

दूसरी चुनौती है पर्यावरण की आधुनिक जीवन-शैली, आधुनिक उत्पादन शैली और विकास ने पर्यावरण को नाजुक स्तर पर पहुँचा दिया है। पर्यावरण के बारे में सोचने-शोध करने वालों का कहना है कि आने वाले 20 सालों में धरती का अस्तित्व रहेगा या नहीं, निश्चित नहीं कहा जा सकता है। जब हम इस तरह से बैठकर बातें करते हैं तो बहुत कुछ गड़बड़ लगता है। लेकिन बाद में भूल भी जाते हैं। एक तिब्बती कहानी है कि एक व्यक्ति की भूत से मित्रता हुई। भूत ने कहा कि मैं तुम्हारी क्या मदद कर सकता हूँ? व्यक्ति ने कहा कि केवल इतना कर दो कि मेरी मृत्यु की पूर्व सूचना दे देना। भूत ने स्वीकार किया। एक दिन भूत ने सूचना कि फलों गाँव में आपका हमउम्र व्यक्ति मर गया। व्यक्ति ने कहा ठीक है मर गया होगा। फिर कुछ दिनों बाद भूत ने सूचना दी फलों गाँव में आपसे बुजुर्ग व्यक्ति मर गया। व्यक्ति ने फिर ध्यान नहीं दिया। कुछ दिनों बाद भूत ने सूचना दी कि फलों गाँव में आपसे कम उम्र का व्यक्ति मर गया। व्यक्ति चिढ़ गया कि मैंने अपनी मृत्यु की पूर्व सूचना माँगी है। तुम ये बकवास सूचनाएँ क्यों दे रहे हो? फिर एक दिन भूत ने कहा कल आपकी

मृत्यु होने वाली है। व्यक्ति नाराज हुआ, उसने भूत से कहा, मैंने तुमसे कहा था कि पूर्व सूचना दे देना तुम एक दिन पहले बता रहे हो। भूत ने कहा मैं तो कई दिनों से संकेत कर रहा था, आप ही नहीं पहचान पाए। ऐसा ही हमारे साथ होता है। उत्तराखण्ड में बाढ़ आई तो यह उनके लिए चिन्ता का विषय है, हमारे लिए सूचना। कहीं सुनामी आई तो उससे प्रभावित लोगों के लिए चिन्ता है हमारे लिए सूचना। हम ऐसी घटनाओं को सूचना मानकर चुप बैठ जाते हैं, सचेत नहीं होते। हमारे मन में सवाल नहीं आता कि ऐसा क्यों हो रहा है?

तीसरी चुनौती है धर्म की मनुष्य को मुक्ति दिला सकने वाला धर्म आज कहीं रह नहीं गया है। मैं बौद्ध धर्म की ओर से कह सकता हूँ कि आज बौद्धधर्म बहुत कम रह गया है। लेकिन धर्म के नाम से जो संस्थान बने हैं, उन्होंने मनुष्य को विभाजित कर दिया है। ये मनुष्य की सम्बेदनाओं का शोषण करते हैं। आज धर्म विभाजन और हिंसा का कारण बन गया है।

चौथी चुनौती है आर्थिक विषमता की आज आर्थिक विषमता मानसिक अधिक बना दी गई है। कोई व्यक्ति यदि सच में दरिद्रता या गरीबी से उबर भी जाता है तो भी मन में वह इससे उबर नहीं पाता है। क्योंकि गरीबी और अमीरी की खाई को बनाए रखने में ही व्यापार/बाजार का फायदा है, ताकि व्यक्ति हमेशा अपने से अधिक धन-संपत्ति वाले की नकल करता रहे और बाजार चलता रहे। आज बाजार ने ऐसी परिस्थितियाँ बना दी हैं कि मनुष्य, मनुष्य नहीं रह गया है, उपभोग का तन्त्र बन गया है। अब मनुष्य उपयोग नहीं करता, उपभोग करता है। आज उपयोग करने से सफलता नहीं आती। उपभोग करने से आती है। ये मानसिक-आर्थिक विषमता राष्ट्रों और समाजों के बीच भी पहुँच गई है। इन सबके चलते पृथ्वी के अस्तित्व को ही खतरा हो गया है।

ये सब योजनाबद्ध हैं। इस बात को कहने के लिए कई साक्ष्यों को एकत्र करने की जरूरत पड़ेगी। और लोग ऐसे साक्ष्य छोड़ते नहीं हैं। आप पाएँगे कि जो लोग अपराध में पारंगत होते हैं, वे साक्ष्यों को मिटाने से नहीं चूकते हैं। लेकिन अनुमान के आधार पर हम इन बातों को कह सकते हैं। ऐसी बातें कही जाती हैं कि पूरी दुनिया को 12-13 घराने चलाते हैं। इनके पास अथाह आर्थिक संसाधन हैं। वे इन संसाधनों को इस तरह रखे हुए हैं कि उसमें दिनोंदिन वृद्धि हो रही है। ये लोग काफी मजबूत हैं। एक धारणा बनी हुई है कि जिस किसी देश का नेतृत्व या शासन इनके नियन्त्रण से बाहर हो जाएगा, वह स्वयं को सुरक्षित नहीं रख सकेगा। ऐसी स्थिति में जो सत्ता में हैं और बने रहना चाहते हैं, उन्हें अंततः इन शक्तियों के आदेशों का अनुसरण करना पड़ता है। हालाँकि, इन बातों को यदि सिद्ध करना पड़े तो हमारे लिए काफी कठिन होगा, पर सूक्ष्म नजरों से देखने पर कुछ ऐसी चीजें दिखती हैं, जिससे सच का अनुमान लगाया जा सकता है। मसलन, 18 वर्षों तक चले वियतनाम युद्ध को देखें,

तो हम पाते हैं कि इस युद्ध का उद्देश्य जीतना नहीं था, क्योंकि अगर वे युद्ध जीतना चाहते तो एक दिन में जीत सकते थे। दूसरे विश्व युद्ध में उन लोगों ने जापान को एक दिन में जीत लिया था। वियतनाम में भी वे ऐसा कर सकते थे या फिर एक दिन में युद्ध बन्द कर सकते थे। लेकिन, ऐसा नहीं किया। न तो युद्ध को बन्द किया, न ही जीता, बल्कि उसे चलाए रखा। इसके पीछे उनका उद्देश्य हथियारों को खपाना था। हमने यह भी देखा है कि इराक और अफगानिस्तान में जिस उद्देश्य को पूरा करने के लिए जंग छेड़ी गई, वह उद्देश्य अन्त तक पूरा नहीं हुआ। हमें समझना चाहिए कि उद्देश्यों को पूरा करने के लिए इन युद्धों को शुरू नहीं किया गया था, उनका लक्ष्य दूसरा था। इसलिए वे चिन्तित भी नहीं हैं। हम भारतवर्ष की बात करें तो यहाँ आतंकवादियों को इतने हथियार और संसाधन कहाँ से मिलते हैं? यह समझना होगा। हमसे लोग कहते हैं कि तुम तिब्बत में संघर्ष क्यों नहीं करते? हम सहयोग कर सकते हैं। पर वे जब ऐसा कहते हैं तो मैं उनके उद्देश्यों का समझ रहा होता हूँ। उनका उद्देश्य तिब्बत की आजादी नहीं है, बल्कि तिब्बत और चीन में कुछ गड़बड़ियाँ चलती रहेंगी या संघर्ष होंगे तो इससे उनके हथियारों का बाजार चलता रहेगा। भूमण्डलीकरण के इस खतरे को दुनिया के सभी देशों के राजनेता समझ रहे हैं, पर विडंबना है कि वे कुछ बोल नहीं पा रहे हैं। इसका अर्थ है कि कहीं-न-कहीं एक ऐसी व्यवस्था है जो इनसे ताकतवर है और दुनिया को संचालित कर रही है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या यह सब इतना योजनाबद्ध है या आधुनिकता की आधारभूमि से स्वतः निकली हुई बात है? यदि सूक्ष्म ढंग से देखा जाए तो दिखता है कि यह सब योजनाबद्ध तो है ही पर साथ ही आधुनिकता की आधारभूमि से स्वतः निकली हुई चीज भी है। मैं दोनों ही चीजों को मानता हूँ। ऐसा इसलिए, क्योंकि जो व्यवस्था रहती है, व्यक्ति का दिमाग उसी के अनुरूप कार्य करता है। आप देखेंगे कि एक अपराधी की दूसरे अपराधी के साथ जल्द मित्रता हो जाती है। एक पापी, दूसरे पापी के जल्दी निकट आ जाता है। यह मानव प्रकृति का एक मूल स्वभाव है। यही वजह है कि अपने अनुकूल स्वभाव का व्यक्ति हमें अपना भाई-बन्धु दिखाई देता है और हम सहजता से एक-दूसरे से जुड़ जाते हैं। लेकिन, इस सहजता को बनाए रखना और उससे भिन्न नहीं सोच पाना ही योजनाबद्ध है। शिक्षा के क्षेत्र में यह व्याप्त है। इसके अलावा विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र में जो विकास हो रहे हैं, एक योजना के अन्तर्गत ही यह सब हो रहा है। शासन या फिर कम्पनी के निर्देश और नियन्त्रण में ही नई चीजों की खोज होती रही है। केवल मानव और समाज हित को ध्यान में रखकर नई चीजें खोजी गई हों, ऐसे बहुत कम उदाहरण मेरी जानकारी में हैं। कम्पनियाँ अपनी निर्धारित योजना के मुताबिक वैज्ञानिकों को पैसे देकर शोध कराती हैं। जब उस शोध का परिणाम उनकी योजना को पूरा करती नहीं दिखती हैं तो उसे दबा दिया जाता है।

इस बीच आधुनिकतावादियों ने कई अच्छे-अच्छे नारे दिए हैं। जैसे लोकतन्त्र की बात है, समानता की बात है, धर्मनिरपेक्षता की बात है, शान्ति की भी खूब बातें होती हैं। ये बातें हमारी शिक्षा का भी अंग हैं। लेकिन, बोलने और वास्तविकता में विरोधाभास दिखता है। ये स्वाभाविक नहीं है, मुझे लगता है कि बनाया जा रहा है और ऐसा करते समय लोगों की स्वीकृति ले ली जाती है। हालाँकि, मैं आज तक यह समझ नहीं पाया कि लोग अपनी स्वीकृति क्यों दे देते हैं। दुनिया-भर में समानता और लोकतन्त्र की बात होती है। इस आधुनिक सभ्यता में बराबरी की जो बात होती है, वे केवल नारे हैं। यथार्थ से उसका कोई सरोकार नहीं है।

पिछले दो-तीन वर्षों से हम लोग इस चक्कर में हैं कि आधुनिकता की चुनौतियों का सामना करने के लिए परम्परा को समझें और ये परम्पराएँ आज प्रासंगिक हैं या नहीं इस पर विचार करें। और विशेषकर शिक्षा-पद्धति में बहुत विचार हुआ है और योजनाएँ बनी हैं जिससे सम्पूर्ण विश्व, विशेषकर भारतवर्ष में एक-दो साफ विभाजन देखे जा सकते हैं। जब भारतवर्ष ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन नहीं हुआ था तब यहाँ पर शिक्षा कैसे होती थी और क्या समझते थे। और कितने अद्भुत विद्वान इस देश ने उत्पन्न किए हैं। जो शिक्षा सरकार की योजनाओं में नहीं थी, राज्य आश्रित भी नहीं थी, जन-आश्रित भी सम्पूर्ण नहीं थी केवल गुरु आश्रित थी। जो गुरु होने की योग्यता प्राप्त कर लेते थे तो उनके पास विद्यार्थी स्वयं आते थे और बिना कठिनाई के लगभग 25 वर्ष की उम्र तक उनके पास रहकर शिक्षा प्राप्त करते थे। लेकिन उस समय शिक्षा सबके लिए अनिवार्य नहीं थी और कोई उसके लिए अनुदान देने वाले भी नहीं थे। अपने परिश्रम से आजीविका भी कमाओ और शिक्षा भी प्राप्त करो। साथ ही निरक्षता भी जनता में बहुत थी। 'राइट टू एजुकेशन' जैसा कोई कानून भी नहीं था। लेकिन उस समय जितने प्रज्ञावान और विद्वान शास्त्र रचियता उत्पन्न हुए वह आज से, जब शिक्षा का सार्वभौमीकरण हो चुका है, कहीं अधिक हुए। यदि देखें तो जब से भारत में ब्रिटिश साम्राज्य शुरू हुआ है उसके बाद कितनी शास्त्र रचना हुई, कितनी नई विद्या उत्पन्न हुई, दर्शन के क्षेत्र में और विशेष रूप से कला के क्षेत्र में, शिल्प के क्षेत्र में, क्या वृद्धि हुई है, क्या हास हुआ है। यदि इस पर थोड़ा-सा सिंहावलोकन करें तो स्पष्ट समझ में आ जाएगा कि शिक्षा की वृद्धि हुई है या हास हुआ है।

मैकाले को हम रोज कोसते हैं; कोसना भी चाहिए, जिसने इस देश में भाषा की स्वतन्त्रता खत्म कर दी। भाषा की स्वतन्त्रता समाप्त करने का परिणाम यह हुआ कि परिकल्पना और संकल्प की स्वतन्त्रता को भी समाप्त कर दिया। हम साम्राज्यवाद की भाषा में सोचते हैं और उस भाषा में बोलते हैं और उसमें एक गौरव का अनुभव भी करते हैं। बड़ा अजीब लगता है। मैं सर्वत्र घूमता रहता हूँ। भारत में अनेकों हवाई-जहाज कम्पनियाँ हो गई हैं और उन सभी परिचायिकाएँ विदेशी वस्त्र पहनती हैं

और विदेशी भाषा में ही हमारा स्वागत करती हैं। और मेरा कुछ ऐसा-कुछ-स्वभाव हो गया है, मैं लोगों से झगड़ता फिरता हूँ; जब कोई फिरंगी भाषा में मेरा स्वागत करता है तो मैं उससे कहता हूँ, विदेशी भाषा में हमारा स्वागत करके हमारा अपमान मत कीजिए। ऐसा नजारा केवल भारतवर्ष में ही देखा जाता है। जर्मनी, स्विटजरलैण्ड या इटली में ऐसा नहीं होता। मुझे लुफ्तहांसा (जर्मनी की सरकारी हवाई-सेवा) में अक्सर आना-जाना होता है। वहाँ कोई परिचारिका तब तक अंग्रेजी भाषा का प्रयोग नहीं करेगी जब तक आप अंग्रेजी नहीं बोलते। वे सीधे जर्मन में बात करते हैं। इतना ही नहीं इस बार नवम्बर में मुझे फिर से इसी हवाई-सेवा का प्रयोग करना है। इसके लिए जब मैंने उनके दफ्तर से प्रवेश-पत्र और समय सारणी मँगाए तो उन्होंने जो कागजात मुझे भेजे वे सब जर्मन भाषा में थे। मुझे कुछ भी समझ में नहीं आया। इसके बावजूद मुझे अच्छा लगा कि वे यह नहीं सोचते कि सारी दुनिया जर्मन नहीं जानती और न ही जर्मन न जानने वालों के साथ दूसरी भाषा में बात करने की सोचते हैं। वे सोचते हैं कि हम अपनी भाषा ही बालेंगे यदि सामने वाला पूछेगा तो ही दूसरी भाषा में बोलेंगे। इटली में भी इसी प्रकार का व्यवहार होता है। एक समय इटली के किसी शहर में हमारे स्वागत में वहाँ के महापौर का भाषण होना था। अंग्रेजी के अनुवादक को आने में करीब आधा घण्टे की देर हो गई। तब तक सब प्रतीक्षा करते रहे। अनुवादक आया और महापौर का भाषण शुरू हुआ। अनुवादक अंग्रेजी में अनुवाद करने लगा। अनुवादक कहीं-कहीं पर त्रुटि कर देता तो महापौर उसे तुरन्त टोक देते और उसे सही करते। अर्थात् महापौर अनुवादक से कहीं अच्छी अंग्रेजी जानते थे मगर वे अपनी ही भाषा में बोलना चाहते थे। और यहाँ हम लोग दो शब्द भी अंग्रेजी के बोल दें तो अपार आनन्द और गौरव होता है। इससे यही पता चलता है कि भले ही हमें राजनैतिक आजादी मिले 65 वर्ष से अधिक हो गए हों, फिर भी दिमागी गुलामी और भाषा की गुलामी हमने स्वेच्छा से नहीं छोड़ी है।

हमें महसूस होता है कि भाषा की पराधीनता राजनीतिक पराधीनता से अधिक हानिकारक है। जब लोगों की भाषा बदल जाती है तो उनकी सोच भी बदल जाती है। और जब सोच बदल जाती है तो संस्कृति का नष्ट होना अवश्यंभावी है। इसलिए यदि किसी राष्ट्र की संस्कृति की सामूहिक हत्या करनी हो तो उसके लिए सबसे सरल तरीका यही है कि उसकी भाषा छीन लो। प्राचीन काल में भी इस पद्धति का प्रयोग किया गया और वर्तमान में साम्राज्यवादी ताकतें भी इसे खूब समझती हैं और प्रयोग करती हैं।

जब तक हम अपनी मातृ-भाषा को सहजता से नहीं बोल पाएँगे, उस भाषा में नहीं सोच पाएँगे तो हम स्वाधीन नहीं हो सकते, हमें स्वराज नहीं मिल सकता। ऐसे में हमारी सोच सहज नहीं होगी, और वह हमारी नहीं होगी, वह कृत्रिम होगी। और जब हम कृत्रिमता में सोचेंगे तो हमारा जीवन भी कृत्रिम होगा, सहज नहीं।

आप सोचेंगे कि मैं भाषा की बात क्यों कर रहा हूँ जबकि हम परम्परा और शिक्षा-पद्धति की बात करने एकत्र हुए हैं। मैं भाषा की बात इसलिए कर रहा हूँ क्योंकि मुख्य प्रश्न यह है कि हमें आज अपनी परम्परा की खोज में क्यों जूझना पड़ रहा है? परम्परा तो जीवन में एक जीवित जीवन-शैली के रूप में रहनी चाहिए थी। वह आज नहीं है इसलिए हम अपनी परम्परा की खोज में गोष्ठियाँ कर रहे हैं, भाषण सुन रहे हैं, शोध कर रहे हैं। अन्यथा हमारे जीवन में अपनी संस्कृति, अपनी परम्परा की तो सहज उपस्थिति होनी चाहिए। यदि उसकी खोज करनी पड़ रही है तो इसका अर्थ है कि हमने उसे खो दिया है या छोड़ दिया है। उसका ज्ञान हम खो चुके हैं इसलिए आज उसकी अनुसन्धान की गवेषणा करने की आवश्यकता पड़ रही है। यह सब इसलिए करना पड़ रहा है क्योंकि हमने भाषा खोई, भाषा खोई तो सोच खोई और सोच खोई तो संस्कृति/परम्परा खोई। ये एक परस्पर जुड़ी हुई कड़ियाँ हैं। इसलिए मुझे लगता है कि इस सम्बन्ध में पहले भाषा की बात करना अनिवार्य है।

एक तिब्बती या एक भारतीय कभी भी पूर्णतः अंग्रेज नहीं बन सकता, जब तक वह किसी अंग्रेजी माता-पिता से जन्म न ले। आप जितना भी प्रयास कर लें, आपकी अंग्रेजियत भी कृत्रिम होगी। आप चाहें कितनी ही अंग्रेजी बोल लें, उनकी वेश-भूषा अपना लें, लेकिन आप पूर्णतः अंग्रेज नहीं बन सकते। इसका एक जीवित उदाहरण अरविन्द घोष हैं। उनके माता-पिता ने उन्हें शत-प्रतिशत अंग्रेज बनाने के लिए उन्हें बचपन से ही अंग्रेजी पढ़ानी शुरू की। उनकी देखभाल करने के लिए जो दो महिलाएँ रहीं वह भी अंग्रेज थीं। ऐसा प्रयास किया गया कि उन्हें कहीं से भी बंगाली शब्द न सुनाई दें। और सात वर्ष की उम्र में उन्हें विलायत भेज दिया। 22 या 24 वर्ष की उम्र तक वे वहाँ रहे। इस दौरान वे पूरी तरह से अपनी भाषा से कटे रहे। इसके बावजूद जब वे वापस लौटे तो हिन्दुस्तानी ही रहे। पूर्णतः अंग्रेज नहीं बने। वापस लौटकर उन्होंने संस्कृति सीखी, भारतीय परम्पराओं को समझा। उन्होंने अपना जीवन एक महासन्त की तरह जिया और अपनी एक दार्शनिक-धारा स्थापित करके गए। इसलिए आप चाहकर भी अंग्रेज नहीं बन सकते, बहुत अक्ल होने पर भी आप इतना ही कर पाएँगे कि बहुत अच्छी नकल कर लेंगे, लेकिन फिर भी आप सहजता से अंग्रेज नहीं बन पाएँगे। नकल में सहजता नहीं रह पाती।

सहजता में स्वभावतः रहते हैं और स्वभाव में स्वराज होता है। हमने भाषा की पराधीनता से स्वराज खो दिया है। जैसा कि पवन जी ने कहा है आज आधुनिक शिक्षा-पद्धति और परम्परागत शिक्षा-पद्धति की दो धाराएँ हो गई हैं। इन दोनों धाराओं के पक्ष-विपक्ष भी हैं। परम्परागत शिक्षा-पद्धति के पक्ष के लोग बहुत अल्पसंख्यक हैं और उन लोगों को एक प्रकार से पिछड़ा या बिछड़ा हुआ माना जाता है। वे दया के पात्र माने जाते हैं। और उनको मुख्य धारा में लाने का प्रयास चलता रहता है। फिर भी कुछ इस प्रयास से बच गए हैं। भले ही इससे कुछ प्रभाव पड़ता

हो या नहीं लेकिन आज भी भारत में कुछ लोग हैं जो परम्परा को बिना खोए व्यक्तिगत जीवन जी रहे हैं। ये हमारा सौभाग्य ही है, ऐसा मानना चाहिए। लेकिन परम्परा के पक्षधरों में कुछ लोग ऐसे भी हैं जो इस आधुनिकता की चकाचौंध से आकर्षित हुए बिना नहीं रहते।

इसी मुद्दे पर पूर्व में हुई दो गोष्ठियों का उल्लेख करना चाहूँगा। जिसमें हम लोगों ने पाँच दिनों को बहुत अच्छा विचार-विमर्श किया था। उस गोष्ठी में परम्परा की पक्षधर बहुत-सी संस्थाओं और व्यक्तियों को भी उस गोष्ठी में बुलाया गया था। लेकिन उनमें से अधिकांश लोग इस बात पर अधिक बल देते रहे कि हमारी परम्परा आधुनिकता के साथ चल सकती है या हमने अपनी परम्परा को आधुनिकता से मिला लिया है इसलिए हम परम्परागत रहते हुए भी पिछड़े नहीं हैं, हम आधुनिक हो गए हैं। बहुत स्पष्ट नहीं भी कहा हो लेकिन भाव रूप में यही था कि हम बहुत आगे हैं, पीछे नहीं हैं। आगे हैं का अर्थ यह था कि हम आधुनिकता से समझौता न भी करें तो भी उसके समकक्ष हैं। आधुनिकता से हमारा कोई विवाद नहीं है, हम उसके साथ चल सकते हैं। उनकी प्रस्तुतियाँ अधिकांशतः इसी दृष्टिकोण को स्थापित करने का प्रयास थी। तो जो परम्परा को परिलक्षित करता हो, जैसे परम्परागत वस्त्र पहनना, तिलक लगाना आदि। ऐसे बाह्य दिखावे को परम्परा मानने लगते हैं। लेकिन उनकी सोच में आधुनिकता का सम्पूर्ण प्रवेश हो गया है, ऐसे लोग ही अधिकतर दिखते हैं।

इस कारण परम्परा की खोज में परम्परा को प्रदर्शित करने वाले बाहरी आवरण पर विश्वास करना भी कठिन हो गया है। भले ही आप अंग्रेजी न बोलते हों, अंग्रेजी वेश-भूषा न पहनते हों, फिर भी सोच में आधुनिकता का प्रभाव न हुआ हो, अपनी स्वाधीनता, स्वराज न खोया हो, ऐसे लोग बहुत कम मिल पाते हैं। मैं व्यक्तियों की आलोचना नहीं कर रहा हूँ। मैं अपने-आपको भी देख रहा हूँ कि हम कितना तटस्थ रह पाते हैं, कितना आधुनिकता में बह जाते हैं। यह दैनिक जीवन में सतत चलने वाला एक संघर्ष है। जिससे परम्परा में रहने वाले लोगों को जूझना पड़ता है। कुछ लोगों के लिए यह संघर्ष नहीं है, समन्वय है। उनके लिए सब ठीक चल रहा है।

ऐसे ही एक समय पटना में सर्वोदयी लोगों का राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। वहाँ एक-दो वरिष्ठ लोगों का कहना था देखो भई, हमें इसी परिवेश में जीना है, इसलिए कुछ-न-कुछ समझौता तो करना पड़ेगा। केवल अपनी बात को लेकर आज की दुनिया में हम नहीं जी सकते। तब यह प्रश्न उठा कि यदि आपके मन में सिद्धान्त और परम्परा को लेकर इतनी श्रद्धा है, आस्था है, और जीने के लिए समझौता करना पड़ रहा है तो जीने की इतनी विवशता क्यों है? जीने की विवशता क्या है और उस विवशता के साथ जीने का क्या अर्थ है? यह प्रश्न पूछा गया हालाँकि इसका सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता। क्योंकि हमने जीने को बहुत महत्त्व दे दिया और उस जीने के लिए बहुत से मसझौते करने पड़ेंगे, ऐसी मानसिकता भी हमारी बन गई है।

तो ऐसी परिस्थिति में हमें पुनः निरीक्षण करना होगा कि परम्परा की कोई आवश्यकता और उसकी प्रासंगिकता है भी या नहीं। और यदि हमें लगता है कि परम्परा की कोई आवश्यकता नहीं है, प्रासंगिकता भी नहीं है, तो हममें यह कहने की हिम्मत भी होनी चाहिए कि हम परम्परा को नहीं मानते। अगर ये साहस न हो और परम्परा का पक्षधर होने का ढोंग करना पड़े तो यह ईमानदारी नहीं होगी, सत्य-आचरण नहीं होगा। यह कहने का साहस होना चाहिए कि मैं इस विचार को नहीं मानता, परम्परा की आवश्यकता नहीं है, परम्परा की प्रासंगिकता नहीं है। इससे जीवन में सहजता आयेगी, कृत्रिमता कम हो जाएगी। फिर उनका सोचना और जीना एक हो जाएगा। हमें इस विषय में भी सोचना चाहिए।

हमारे मन-मस्तिष्क पर आधुनिक सभ्यता और शिक्षा का ऐसा प्रभाव पड़ा गया है कि हम जो कार्य करते हैं, उसे केवल सफलता और असफलता की कसौटी पर देखते हैं। इसमें सफल परिणाम नहीं आने पर निराशा का भाव आता है और हम अपनी ऊर्जा कम कर देते हैं। यहाँ गीता का वह वाक्य बेहद महत्त्वपूर्ण है, जिसमें कहा गया है, 'कार्य करना तुम्हारा धर्म है, परिणाम तुम्हारे हाथ में नहीं है'। यहाँ मैं कहना चाहूँगा कि यदि 'परिणाम' पर ही व्यक्ति केन्द्रित रहेगा तो 'परिणाम' आने पर ऊर्जा बढ़ेगी और 'परिणाम' न आने पर ऊर्जा में कमी होगी। 'परिणाम' के प्रति लोभ और आशा बनी रहती है। साथ ही परिणाम न आने का भय और निराशा का भाव भी रहता है। लोभ, आशा, भय और निराशा होने से कर्तव्य निभाते समय पूर्णता नहीं आती। दरअसल, आधुनिक सभ्यता हमें अधिकार के प्रति अधिक जागृत करती है, लेकिन कर्तव्य का भाव दबा देती है। साथ ही शरीर के प्रति अधिक सर्तक करती है, मन के प्रति कम। इसलिए सभी चीजों को परिणाम के रूप में देखने की इच्छा ही निराशा का भाव पैदा करती है। **आज की परिस्थिति में जो वातावरण और समाज हमें मिला हुआ है, उसमें कुशल कार्यों का परिणाम निकलना बहुत कठिन हो गया है। इसलिए यदि सिर्फ कर्तव्य के प्रति ध्यान केन्द्रित रहेगा तो ही आशा रहित ऊर्जा का भाव बना रह सकता है।**

आज जो परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं, उसे मैं कैसे देखता हूँ? इसकी व्याख्या के लिए तो लम्बा समय चाहिए। हाँ, संक्षिप्त में इतना कह सकता हूँ कि गाँधीजी ने अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज' में जिस सभ्यता को सौ वर्ष पहले नकार दिया था, उसी सभ्यता का आज सभी के ऊपर गहरा असर दिखाई पड़ रहा है। आज स्थिति ऐसी है कि उस सभ्यता के विरोध में उठ खड़े होने की बात तो छोड़ दें, उससे स्वयं को अलग रखने पर भी लोग शर्मिंदगी महसूस करने लगते हैं, क्योंकि वे स्वयं को पिछड़ा हुआ पाते हैं और आज इसके लिए तैयार नहीं हैं। आज लोग या तो सबसे आगे चलना पसन्द करते हैं, नहीं तो सबके साथ चलने का प्रयास करते हैं। यह मनोस्थिति केवल राजनीति या अर्थिक जगत से जुड़े लोगों की नहीं है, बल्कि साधना में लगे

कुछेक संत-महात्मा को छोड़ दें तो धर्म जगत से जुड़े संस्थागत लोग भी स्वयं को आधुनिक बनाने में जुटे हुए हैं। वे इस बात को अभिव्यक्त करने में लगे हैं कि उनका धर्म पिछड़ा हुआ नहीं है। वे भी आधुनिक हैं, ऐसी कोशिश हर तरफ है।

शिक्षा एक मार्ग था। शिक्षा लेकर अज्ञान को निर्मूल किया जाता था और ज्ञान की पूँजी को सुलभ किया जाता था। लेकिन शिक्षा से अज्ञान का निराकरण और ज्ञान की प्राप्ति तभी संभव है जब शिक्षा में आपके ऊपर कोई विचार या मान्यता न थोपी जाए। शिक्षा केवल इतना ही करे कि मनुष्य के अन्दर जो ज्ञान अथवा प्रज्ञान के बीच होते हैं उनको अंकुरित और फलने-फूलने में सहायता करें। एक बात बहुत स्पष्ट है कि शिक्षक अथवा गुरु यह तय नहीं कर सकते कि विद्यार्थी को क्या बनाना है। विद्यार्थी एक व्यक्ति है। व्यक्ति होने के नाते उसका एक स्वभाव है, अपना संस्कार है, अपनी कर्मभूमि है। उसे किस दिशा में जाना चाहिए इसका निर्णय वह अपने विवेक से करे, यह उसका स्वराज है। उसमें किसी को दखल नहीं देना चाहिए, ऐसा परम्परा वाले मानते हैं। लेकिन आज ये समस्या हो गई है कि विद्यार्थी मात्र एक संसाधन हो गया है, सामग्री हो गया है; जिसे शिक्षा के माध्यम से परिष्कृत करके बाजार में बिकने लायक उत्पाद बनाना चाहिए। ऐसी आज की शिक्षा वाले सोचते हैं। इसीलिए कुछ वर्ष पहले तक भारत में जो 'शिक्षा-मन्त्रालय' था आज 'मानव संसाधन विकास मन्त्रालय' हो गया है। इस प्रकार मानव एक संसाधन हो गया है। जैसे लोहा एक साधन है, सीमेंट है, पत्थर एक संसाधन है, वैसे ही मनुष्य भी एक संसाधन है, जिसे शिक्षा के कारखाने में तैयार किया जाता है। और कैसा माल तैयार करना है? यह बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ बताती हैं। ये कम्पनियाँ सरकार को बताती हैं कि हमें इस प्रकार का मनुष्य चाहिए। सरकार शिक्षा-संस्थानों को बताती है कि इस प्रकार का मानव संसाधन तैयार कर सको ताकि फलौ-फलौ कम्पनी की मानव संसाधन की आवश्यकता की पूर्ति हो सके। अगर हम बाजार में बिक न सकें तो हमारी शिक्षा बेकार है। ऐसा कहा जाता है कि वे शिक्षित तो हो गए हैं लेकिन अभी बेरोजगार हैं। क्योंकि वे शिक्षित हो गए हैं, इसलिए खेती नहीं कर सकते, कोई शिल्प-कला नहीं अपना सकते, बागवानी नहीं कर सकते। वे कुछ नहीं कर सकते, जब तक कि उन्हें तथाकथित 'व्हाइट कॉलर' नौकरी नहीं मिल जाती है। वे मालिक नहीं बन सकते। असल में इस मालिक बने रहने की मानसिकता को ही 15-16 सालों की शिक्षा में खत्म किया जाता है। इस प्रकार की शिक्षा-प्रक्रिया, जिसमें मनुष्य को बिकाऊ सामग्री बना दिया जाता है, यदि सही लगती हो तो तब हमारा कोई काम नहीं है। और यदि ये सही नहीं है; यदि मनुष्य को मनुष्य रहना चाहिए; मनुष्य के स्वभाव को परिवर्तित करके किसी सामग्री या संसाधन के रूप में परिवर्तित करना मूलभूत मानव अधिकार का उल्लंघन है; यदि आप ऐसा सोचते हैं, मैं तो ऐसा ही सोचता हूँ, तब तो ये एक

विचारणीय बिंदु हो सकता है। एक बच्चा जो अभी तीन-चार साल का है, उसके दिमाग के एकदम से एक निर्धारित दिशा में डालने की जो प्रक्रिया जिसे अंग्रेजी में 'indoctrination (इनडॉट्रिनेशन)' या 'brainwashing' भी कहते हैं जिसे शिक्षा के नाम से किया जाता है, इससे अधिक मानव-अधिकार का हनन क्या हो सकता है।

इन सब प्रश्नों को लेकर भारतवर्ष में अनेक प्रयोग हुए हैं। उन प्रयोगों का महत्त्व कम नहीं है। रविन्द्रनाथ टैगोर ने एक विशाल योजना और दूरगामी दृष्टि के साथ शान्ति निकेतन की स्थापना की, इससे कई लोगों को लाभ भी हुआ। अरविन्दो घोष ने अरविन्दो आश्रम के अन्तर्गत अनेक विद्यालय खोलकर भिन्न प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास किया। लेकिन 60-65 वर्षों तक ठीक चलने के बाद वे अब कठिनाई में हैं। ये जो शिक्षा का अधिकार का अधिनियम आ गया है, इसके अन्तर्गत इन्हें मान्यता न मिलने के कारण ये कठिनाई आ गई है। जब लोगों को अधिकार दिए जाते हैं तो कर्तव्य-पूर्ति में व्यवधान आने लगता है, यह भी आधुनिकता की एक देन है। मोहनदास कर्मचन्द गाँधी ने बुनियादी शिक्षा-पद्धति को सोचा और विकसित किया। उन्होंने इसके बारे में स्वयं लिखा है यह शिक्षा-पद्धति मेरी ओर से राष्ट्र को अन्तिम और सबसे अच्छी भेंट है। लेकिन गाँधीजी के जीवन के साथ ही वह बुनियादी शिक्षा-पद्धति भी लगभग खत्म हो गई है। कुछ गिने-चुने आश्रमों में इस आधार पर कुछ विद्यालय चल रहे हैं, जिनमें बहुत कम विद्यार्थी आते हैं। और सूक्ष्म रूप देखा जाए तो वह पद्धति भी गाँधीजी की मूल विचारधारा से काफी दूर निकल गयी है। जे. कृष्णमूर्ति सारी संस्थाओं और संगठनों के विरोधी थे। कोई भी संस्था या संगठन कुछ समय बाद प्रदूषित हो जाता है, यह मानकर वे इनके प्रबल विरोधी थे। लेकिन उनकी प्रबल इच्छा थी कि विद्यालय चलने चाहिए। कृष्णमूर्ति न्यास की ओर से अभी आठ-नौ विद्यालय चल रहे हैं, उसमें आज की मूल-धारा की शिक्षा-पद्धति से हटकर शिक्षा देते हैं। इसमें कक्षा आठ तक सही शिक्षा देते हैं, लेकिन कक्षा नौ से अभिभावकों के दबाव के चलते मुख्य धारा की शिक्षा-पद्धति से ही पढ़ते हैं। लेकिन फिर भी ऐसे विद्यालयों में 10-12 वर्ष तक रहकर थोड़ा-बहुत 'स्व' का परिचय हो जाता है। थोड़ा-बहुत स्वावलम्बन और स्वाभिमान का बीज बना रह जाता है। मेरे ख्याल से यह भी कम महत्त्व का नहीं है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय स्वतन्त्रता संग्राम के अंग के रूप में एक विशेष विद्यालय रहा है। लेकिन वहाँ की शिक्षा-पद्धति पूर्णतः पाश्चात्य है। महामना जी को उससे कोई परहेज नहीं था। और उस दिशा में वे उस विद्यालय को ले गए। उस विद्यालय के उद्घाटन में गाँधीजी का दिया भाषण बहुत प्रसिद्ध है। उस भाषण को देते हुए उन्हें बीच-बीच में रोका भी गया। उस भाषण से यह स्थापित होता है कि अत्यन्त पवित्र भावना के बावजूद मालवीय जी का यह प्रयास गाँधीजी के विचारों के अनुरूप नहीं था। बाकी सभी विश्वविद्यालय समूह हैं अंग्रेजों के जमाने के और आजादी के बाद स्थापित उन सभी की दिशा एक ही

तरफ है। मूल-धारा से हटकर जाने की हिम्मत किसी में नहीं। सरकार की ओर से भी शिक्षा-पद्धतियों को लेकर बहुत सी समितियों को बिठाया गया। आजादी के बाद सबसे पहले राधाकृष्ण आयोग बना। राधाकृष्ण जी धोती और पगड़ी में अंग्रेज ही थे। इसलिए उनकी संस्तुतियाँ हमारे दृष्टिकोण में कोई खास नहीं थीं। राहुल सांकृत्यायन ने उस पर टिप्पणी भी की थी राधाकृष्ण की लीलापोती जो कुछ चल रहा है उस पर थोड़ा-बहुत लीलापोती। तब से लेकर सबसे आखिरी में, कुछ वर्षों पहले, आचार्य राममूर्ति कमीशन तक लगभग 6-7 कमीशन बैठे हैं। इनमें कोठारी कमीशन सबसे प्रसिद्ध है। उनकी कुछ संस्तुतियों सरकार ने स्वीकार भी किया है। आज शिक्षकों का जो वेतनक्रम है वह इसी कमीशन की देन माना जाता है। इसके अलावा शिक्षा-पद्धति में बहुत कुछ परिवर्तन उनकी संस्तुतियों से भी नहीं आया। इधर कुछ वर्षों से संपूर्ण विश्व में परिवर्तन की दौड़ में पाठ्यक्रम में, परीक्षा-पद्धति में कुछ परिवर्तन आया है। लेकिन वह भी हमारा मौलिक परिवर्तन नहीं है, नकल से आया हुआ परिवर्तन है। पश्चिम में कुछ परिवर्तन हुआ तो विवश होकर हमने भी परिवर्तन कर लिया। अर्थात् हमारी सोच से यह परिवर्तन नहीं आया। हम नहीं जानते कि हमने यह परिवर्तन क्यों किया है। केवल यह मानकर ही यह परिवर्तन हुआ कि अमेरिका, इंग्लैण्ड, जर्मनी आदि में भी ऐसा ही होता है। इसके पीछे कोई दर्शन या सिद्धान्त जिसके आधार पर गुण-दोषों की परीक्षा की जाती है नहीं दिखाई देता।

अगर मुझे पूछा जाए कि शिक्षा-पद्धति के लिए हमें किस धरातल पर और किस रूप में विचार-विमर्श करना चाहिए, तो मैं कहूँगा कि आधुनिक सभ्यता और परम्परागत सभ्यता के बीच में जो द्वन्द्व है, जो विरोध है, और इस विरोध को समझते हुए, क्या हम परम्परागत सभ्यता में, प्राचीन भारतीय सभ्यता में स्वयं को पुनःस्थापित कर सकते हैं? इसका कोई उपाय है? कोई असर है? कोई सम्भावना है? इस पर अधिक सोचना चाहिए। यदि ऐसी कोई सम्भावना होगी और उस सम्भावना को साकार करने के लिए शिक्षा-पद्धति प्राथमिक आवश्यकता लगती है तो उस दृष्टि से हम विचार-विमर्श कर सकते हैं। लेकिन जब तब आधुनिक सभ्यता के दोष नजर नहीं आएँगे, वह त्याज्य है, उससे हमारा कल्याण नहीं होगा; इस बात की जानकारी नहीं होती तब तक समाधान नहीं होगा। मान लेने से काम नहीं चलेगा। गाँधीजी को मान लेने से भी हमारा काम नहीं चलेगा। वह हमें स्वयं अपनी तार्किक बुद्धि से अनुभूत करना होगा। इस दृष्टि से यदि संवाद आगे चल सकें तो मेरे लिए उपयोगी होगा। और मैं इसमें भागीदारी करने और योगदान करने का प्रयास कर सकूँगा।

आज हम में से कई लोग इस संवाद को एक दिशा देने की कोशिश कर रहे हैं। यह दिशा है कि इस आधुनिक सभ्यता का उपाय क्या है? इससे छुटकारा कैसे मिल सकता है? और यह काम अत्यन्त कठिन दिखाई देता है। भगवान बुद्ध ने कहा था, जब दुख को ही सुख समझा जाएगा तो उसके निवारण का कोई प्रश्न नहीं उठता

है। अर्थात् यदि दुःख से निकलने की इच्छा है तो पहले समझना होगा कि यह दुःख है। इसके बाद ही सुख की खोज शुरू होगी। मैं कहना चाहता हूँ कि आज जितनी बुराइयाँ (आधुनिक सभ्यता की) हैं, अधिकांश लोग उन्हें अच्छाई के रूप में देखते हैं। ऐसी परिस्थिति में सामाजिक स्तर पर किसी व्यापक परिवर्तन की आशा करना अस्वाभाविक-सा प्रतीत होता है, तो निराशा का भाव आना स्वाभाविक है। इसे स्वीकार भी किया जाना चाहिए। आजकल बहुत लोग निराश होते हुए भी आशावादी दिखलाई देना चाहते हैं। वह भी एक तरीके की बनावट है। **यहाँ मैं एक बात और कहना चाहूँगा कि निराशा का भाव आना और आत्मसमर्पण करना, ये दो अलग-अलग बातें हैं।**

मैं इस मामले में करीब-करीब सहमत हूँ, कि यदि हम आधुनिकता का परित्याग नहीं कर पाते तो परम्परा की बात करना ईमानदारी नहीं होगी। इसके बजाय परम्परा को दकियानूसी कहकर, पिछड़ा कहकर छोड़ दीजिए, इससे हमें कोई दिक्कत नहीं है। जब हम परम्परा की बात करते हैं, विशेषकर भारतीय परम्परा की, तो उसके साथ आधुनिकता नहीं चल सकती। आधुनिकता के साथ परम्परा की बात नहीं हो सकती। ये *कम्पैटेबल* नहीं है।

आधुनिकता पर विमर्श करते समय एक समस्या सामने आती है, वह यह कि इस विषय पर विमर्श करते हुए आधुनिकता व परम्परा ये दो पक्ष बनाकर हम अपने दिमाग में द्वन्द्व पैदा कर लेते हैं कि परम्परा बहुत अच्छी है, आधुनिक बहुत खराब हैं। ऐसी मान्यता को मानकर हम स्वयं को परम्परा के पक्ष में खड़ा कर लेते हैं। इस तरह से आधुनिकता हमारे विपक्ष में खड़ी हो जाती है। हम परम्परा के पक्ष से खड़े होकर आधुनिकता का खण्डन करने लगते हैं। लेकिन खण्डन करने के हमारे सारे हथियार, औजार आधुनिकता से ही लिया होता है। हमारा मानस तो आधुनिक है और उस आधुनिक मन से जब हम आधुनिकता को Dismantle करने का प्रयास करते हैं तो कुछ निकलता नहीं है। और अन्ततः आप आधुनिकता में ही लिप्त रहते हैं। लेकिन आधुनिकता को गरियाने के लिए आपके पास बहुत से शब्द आते हैं। आप उन शब्दों का प्रयोग करते हैं और ऐसा करके संतुष्ट भी होते हैं कि मैंने आधुनिकता को बिल्कुल नष्ट-भ्रष्ट कर दिया, लेकिन स्वयं आधुनिकता से संरक्षित होकर बैठे रहते हैं। इसको जरा जाँच करके ध्यान दीजिएगा। इसकी उपमा मैं देता हूँ। जो जन्मजात अन्धे हाथी को स्पर्श करते हैं। जिसने हाथी के पाँव को छुआ था वह हाथी को खम्भे की तरह बताता है। और दूसरा कहता है कि हाथी सूप की तरह है। फिर एक आँख वाला आदमी हाथी की सूप की तरह समझने वाले को बताता है कि हाथी ऐसा नहीं है जैसा तुम समझते हो। यदि तुम पूरा हाथी छुओगे तो हाथी ऐसा होता है। वह पूरा हाथी छूने के बाद हाथी को खम्भा समझने वाले को बताएगा कि तुम गलत समझ रहे थे। हाथी तो ऐसा होता है। लेकिन जब आँख वाला आदमी बताएगा कि सफेद नहीं काला होता

है तो दोनों अन्धे आदमी नहीं समझ पाएँगे। वह भी नहीं जिसने हाथी को खंभा समझा था और वह भी नहीं जिसने पहले हाथी को सूप की तरह समझा था और फिर आँख वाले मार्गदर्शन में हाथी को पूरा छूकर अन्दाजा लगा लिया था कि हाथी कैसा होता है। दोनों ही उसके रंग का पता नहीं कर पाएँगे, जब तक कि उनकी आँखों का इलाज नहीं हो जाता। तो हम लोग जो परम्परा की बात करते हैं, उस अन्धे की तरह हैं जिसने पूरा हाथी तो छू लिया लेकिन उसके काले होने की बात नहीं जानी।

बौद्ध धर्म की परिभाषा में Illumination को प्रकाश्वर कहते हैं। जो अपने स्वभाव से प्रकाशित हैं, जिसको बाहर से प्रकाश की आवश्यकता नहीं है और न ही उसे बाहर से प्रकाश दिया जा सकता है। वह प्राकृतिक रूप से प्रकाशित है लेकिन आवरण से ढका हुआ है। लोगों का प्रयास रहता है कि बाहर से प्रकाश लाएँ और आवरणों से ढके प्रकाश को भी प्रज्वलित करें, लेकिन वह होता नहीं है। जब आवरण हटाया जाता है तो जो स्वभावतः प्रकाशित हैं वे बाहर आते हैं। तो Illumination का शब्द इसलिए चुना गया है कि External instrument, External method or External tools cannot give you the light. It shall have to be by nature illuminated। इसमें एक शब्द बताना मैं भूल गया Unlearning। 'Unlearning' सरण साहब द्वारा प्रयुक्त शब्दों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तो जब हम आधुनिकता की परीक्षा करते समय बिना पक्ष लिए हुए पूर्ण तटस्थ दृष्टि से देखने की चेष्टा करेंगे तो मैं समझता हूँ कि एक नई अनुभूति होगी। सभी की अनुभूतियाँ एक-सी हों ऐसा जरूरी नहीं है। इसकी कोई चिन्ता नहीं है। लेकिन फिर सही मायने में आधुनिकता क्या है? परम्परा क्या है? इनके गुण-दोष क्या हैं? और उसमें से हम बाहर कैसे निकल सकते हैं? इन सब प्रश्नों को और भी बेहतर ढंग से पूछने की पद्धति हमको मिलेगी और हम उन ग्रंथों को और गहराई से पूछ पाएँगे, ऐसा मुझे लगता है।

इसके लिए एक स्कूल की कल्पना भी हुई थी। जब हमने इस प्रकार के स्कूल की कल्पना की थी तो conventional sense में कोई नई शिक्षा देने की या कोई Knowledge acquire करने की बात उसमें नहीं थी। बल्कि जो कुछ सीखा हुआ था, learn किया हुआ था उसे unlearn करने की आवश्यकता के ऊपर जोर देने की बात थी। इसलिए इसे नकारात्मक कार्य भी कहा गया। क्योंकि बहुत से विद्वानों का विचार है कि जो कुछ जानकारी है, या Knowledge है उसे नष्ट करने की आवश्यकता नहीं है बल्कि उसमें कुछ Modification की आवश्यकता है, उसमें थोड़ा सुधार कर लेना चाहिए और जब वह सुधार जाएगा तो वह ठीक रहेगा।

तो यहाँ पर Negative task का यह अर्थ था कि जिस बात को हम नकार रहे हैं वह सुधार योग्य नहीं है, उसे पूरी तरह समाप्त करना होगा। और इसके लिए यह करना होगा कि आधुनिक पद्धति से जो कुछ शिक्षा, शिक्षा तो शायद हमें नहीं कहना चाहिए, Education लिया है उसे unlearn करना होगा। unlearn करने का अर्थ यह

नहीं है कि जो कुछ हमने सीखा है उसे भूला जाए, बल्कि यह कि उसके प्रभाव हमारे मस्तिष्क में न रहे; हमने जो कुछ सीखा है, उसे हम जानते हैं और इसे जानने के बावजूद हमारा मन उसका गुलाम नहीं है। उसके प्रभाव से हम बाहर निकल आए हैं। लेकिन इस तरह के कामों में द्वेष या बदले का भाव आने की सम्भावना रहती है।

नकारने की इस प्रक्रिया में आधुनिक एजुकेशन को नकारने की बहुत बड़ी आवश्यकता तो है, जैसा सरण जी ने लिखा है; लेकिन इसमें Resentment या Hate की बात नहीं है। Resentment या Hate की बात इसलिए नहीं है कि हम जिस बात (आधुनिकता) को नकारने की चेष्टा कर रहे हैं, वह केवल किसी निकृष्ट प्रेरणा में नहीं उत्पन्न हुई है। बहुत से लोगों की प्रेरणा और संकल्प नकारात्मक नहीं थे, विज्ञान इसमें आता है, सम्पूर्ण प्रौद्योगिकी इसमें आती है। इसको neutral मानने वाले भी बहुत हैं। इसको (विज्ञान व प्रौद्योगिकी) neutral मानने वालों का एकमात्र तर्क यह रहता है कि यह सब किसी अच्छे विचार की उत्पत्ति हैं जिनका कालान्तर में गलत इस्तेमाल होने लगा तो यह अलग बात है। प्रारंभ में हिंसा या विध्वंस इसका प्रेरणा नहीं थी। मनुष्य की सुविधा को सोचकर ये सब किया गया था। इसलिए हम इन सब परिष्कारकों के Intention को चुनौती नहीं दे सकते।

लेकिन Intention को चुनौती नहीं देने पर भी यह प्रश्न उठता है कि इसके पीछे गहराई में सोच क्या रही होगी? प्रकृति के साथ मनुष्य के सम्बन्ध का जो एक स्वाभाविक सन्तुलन है, उसे या तो समझा नहीं गया है या नकारा गया है। और यदि नकारा गया है तो उसे सही नहीं माना जा सकता। और यदि समझा नहीं गया तो उनका दोष कम माना जा सकता है। लेकिन चाहे नकारा गया हो या समझा गया हो; लेकिन उस कार्य का परिणाम क्या हुआ? मानव और प्रकृति का जो सहज सन्तुलन था या होना चाहिए था उसमें बिगाड़ आया है। जब इस बिगाड़ की वजह से हम आधुनिकता को नकारते हैं तो मन में resentment या hate की बात आना स्वाभाविक है। लेकिन, अगर हम इसे resentment या hate -अलग नहीं रख पाएँगे तो हमारा सारा प्रयोजन उसी वर्ग में चला जाएगा। अब जिसके विरोध में हमें काम करना है तो हमारी सारी प्रक्रिया उसके विपरीत होनी चाहिए। यदि उसने द्वेष से प्रेरित होकर कोई काम किया हो, और हमें उसे नकारना है या सुधारना है तो हमारा विरोध द्वेषरहित होना चाहिए; यदि उसने तृष्णा से प्रेरित होकर किया हो, तो हमारा विरोध तृष्णा से रहित होना चाहिए; यदि उसने resentment होकर किया हो तो हमें resentment रहित होकर विरोध करना होगा। अर्थात् जिस भावना से प्रेरित होकर बिगाड़ हुआ है यदि हम उसके विपरीत चिन्त-वृत्ति लेकर विरोध करेंगे तो हम उसे सुधार सकेंगे या नकार सकेंगे। अन्यथा कोई परिणाम नहीं आएगा। यदि आएगा भी तो परिणाम, द्वन्द्व ही होगा। और द्वन्द्व-से-द्वन्द्व खत्म नहीं होता। कुल मिलाकर कहने की कोशिश है कि हम आधुनिकता की पृष्ठभूमि में खड़े होकर, उसके ही औजारों को

लेकर, आधुनिकता से लड़ नहीं सकते। यदि हम ऐसा करने का प्रयास करेंगे तो हम उसी आधुनिकता के जाल में फँसकर रह जाएँगे।

तो इसलिए आज आधुनिक समय में प्रचलित जितनी विधाएँ, विद्या तो शायद नहीं कह सकते, विषय हैं, जिसमें समाजशास्त्र, एंथ्रोपोलोजी आदि सभी 'लॉजी' हैं, उन सभी पर पुनर्विचार करना जरूरी है। विशेषकर उन सभी के प्रस्थान बिन्दु पर विचार करना बहुत जरूरी हो जाता है। लेकिन आज किसी भी विचार के प्रस्थान बिन्दु को हमने भुला दिया है। कोई भी चीज जो आज हम कर रहे हैं उसकी प्रस्थान भूमि, प्रारम्भ होने और प्रस्थान होने में अन्तर है; प्रस्थान एक गति के साथ होता है, कहाँ से हुआ यह जानना जरूरी है। यदि प्रस्थान गलत पृष्ठभूमि से हुआ है तो जब तक उसकी गति का अन्त नहीं हो जाता तब तक वह गलत ही रहेगा।

ऐसे स्कूल के बारे में सरण साहब ने कहा है As the Buddhisth teach as— The fight against the enemy inside us is always far more difficult than to fight against the enemy outside. The specific methodical device is taking in this school as well as in the law as the acknowledge danger inherent in such methods arise from this fundamental difficult. भगवान बुद्ध ने भी कहा है कि आन्तरिक विरोधियों से लड़ने और बाह्य विरोधियों से लड़ने में बहुत अन्तर है। अपने आन्तरिक विरोधियों से लड़ते हुए हम हमेशा उसके अवयव हो जाते हैं या उसके अंग हो जाते हैं। और जिसका अंग हो जाते हैं उसका प्रतिरोध प्रभावशाली ढंग से नहीं कर सकते। उसका प्रतिरोध करने की न्यूनतम शर्त है कि हम उसके अंग न हों। और प्रतिरोध के हमारे जितने उपाय हैं, जितने हथियार हैं वह सब उस पृष्ठभूमि से उत्पादित न हों। जिसका हम विरोध कर रहे हैं उसके ही उत्पादित हथियारों का प्रयोग उसके ही प्रतिरोध के लिए प्रयोग करना, शायद बाह्य जगत में तो चल सकता है लेकिन आन्तरिक जगत में यह नहीं काम आता। इसके लिए एक परिभाषिक शब्द आता है जिसका सुधार करना है, और जो सुधार करने के उपाय है, उन दोनों में एकदम पृथक्ता और भिन्नता होनी चाहिए तभी इसका कुछ प्रभाव पड़ सकता है।

तो जैसा पहले कहा गया कि जो हम करना चाह रहे हैं वह कार्य नकारात्मक है। नकारात्मक इसलिए कि कुछ नकारा जा रहा है। इस नकारात्मक कार्य को करने में सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि यदि इसमें Resentment या Hate आ जाता है तो हमारा प्रयोजन पूरा नहीं होगा। जो हमारे स्कूल का उद्देश्य है वह सही ढंग से नहीं होगा। सरण जी आधुनिक, आधुनिकता और आधुनिकीकरण, तीनों को जोर देकर बोलते थे। यदि इन तीनों के प्रति Resentment या Hate की पृष्ठभूमि पर हम स्कूल शुरू करते हैं तो उसका उद्देश्य पूरा नहीं होगा। यदि उस पृष्ठभूमि को छोड़कर एकदम दूसरी पृष्ठभूमि से स्कूल शुरू करें तो हम false conciousness के बदले conciousness की उपलब्धि पा सकते हैं। और इसकी शुरुआत खुद से ही करनी

होगी। जिस परिवर्तन की बात हम करते हैं, उसमें पहले जीना होगा। फिर लोगों से कहना होगा। शिक्षा और विचार के क्षेत्र में जहाँ तक सम्भव हो उसे समाहित करने का प्रयास करना होगा। हालाँकि, इस शुरुआत से बदलाव की प्रक्रिया कितनी गतिशील होगी, यह बता पाना काफी कठिन है। क्योंकि, गति पकड़ने के लिए बहुत सारे बाह्य व आन्तरिक वातावरण और हेतु को इकट्ठा होना पड़ता है। इसे दूसरे प्रकार से समझें तो प्रत्येक बीज में अंकुरित होने की क्षमता होती है। यदि किसी बीज को बोतल में बन्द रखा जाए तो वह अंकुरित नहीं हो सकता है, लेकिन यदि उसे जमीन में बो दिया जाए और समय पर खाद, पानी आदि डाला जाए तो उसका समुचित विकास होता है।

आधुनिकता से मुकाबले के लिए बहुत से विचार सामने आते हैं। एक लोकप्रिय विचारधारा यह है कि अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। जो कुछ चल रहा है वह चलता रहेगा। आप अपने में कुछ रोना-धोना कर लीजिए इसके लिए आप स्वतन्त्र हैं। लेकिन इससे कुछ होने-जाने वाला नहीं है। यह भी एक सोच है जो सहजता और स्वाभाविकता से उत्पन्न नहीं हुई है बल्कि उनके माध्यमों द्वारा हमारे दिमाग में डाल दी गई है।

एक दूसरा विचार यह है कि मनुष्य आशा पर जीवित रहता है। हमें हमेशा आशावादी रहना चाहिए। वे कहते हैं कि हम आशा के साथ जीएँगे या आशावादी होकर कुछ करेंगे। आशावादी लोग यह कहते हैं कि अभी भी सुधारने की कोई गुंजाइश है। उनके अनुसार अभी सही दिशा में सोचने वालों की कमी नहीं है, केवल नेतृत्व और मार्गदर्शन की कमी है। सही नेतृत्व मिलने पर सुधार अवश्य आएगा। इसलिए सही सोचने वालों को चुप नहीं बैठना चाहिए। चाहे परिणाम आए न आए, अपना कर्तव्य करते रहना चाहिए। मेरे मित्र मुझसे कहते थे कि इस दुनिया की सारी समस्याओं की जड़ यह नहीं है कि दुर्जन सक्रिय हैं, बल्कि यह है कि सज्जन निष्क्रिय हैं। इसलिए सज्जन लोगों को संगठित होकर कुछ-न-कुछ सोच-विचार करते रहना चाहिए। इससे लोगों के मस्तिष्क में कुछ-न-कुछ बीज पड़ेगा तो वह धीरे-धीरे अंकुरित होगा, फलेगा-फूलेगा, इसकी आशा रखते हुए सक्रिय रहना चाहिए।

और तीसरा विचार यह है कि हमारी गतिविधियों से जगत पर प्रभाव पड़ता है या नहीं, इसकी चिन्ता क्यों करते हो? एक मनुष्य होने के नाते तुम्हारा जो कर्तव्य है, उस पर क्यों नहीं सोचते हो। अगर तुम यह सोचकर चुप बैठते हो कि मेरे कुछ करने से गलत दिशा में जाने वाले पर कोई फर्क नहीं पड़ेगा, तो इसका अर्थ यह है कि तुम इसके साथ हो। और उसके कार्यों के दुष्परिणामों में तुम्हारी भागीदारी भी होगी। तुम्हारी गतिविधियों से, विचार-विमर्श से, प्रयासों से दुनिया बदलने वाली है या नहीं, यह देखना तुम्हारा काम नहीं है। इसलिए बदलेगी तो बदलेगी और नहीं बदलेगी तो नहीं सही, लेकिन जो गलत हो रहा है, तुम उसके साथ क्यों हो? गलत को गलत कहने

का कर्तव्य क्या तुम्हारा नहीं है? यदि गलत को गलत नहीं बालेंगे तो यह एक प्रकार से गलत को तुम्हारी मौन स्वीकृति है। इसलिए सोचना चाहिए, प्रयास करना चाहिए; यह तुम्हारा कर्तव्य है। भगवद्गीता का मूल सन्देश यही है। अपने कर्तव्य को पहचानो और करो, परिणाम की इच्छा मत करो। इस सन्देश को बौद्ध दर्शन वाले अक्षरशः नहीं मानेंगे, लेकिन व्यवहार में मुझे यह अच्छा लगता है। परिणाम की इच्छा से जो काम होता है उसमें स्वार्थ की गुंजाइश अधिक रहती है। परिणाम की चिन्ता से रहित यदि कोई काम होगा तो उसमें स्वार्थ की गुंजाइश बहुत कम होगी।

लेकिन यह भी सही है कि आज जो जीवन हम जी रहे हैं, वह हमारी विवशता है। विवशता के इस जीवन को जीते हुए भी मन में इसके प्रति एक अस्वीकार का भाव रखें। हम लोगों ने सारनाथ में एक शब्द तैयार किया selective acceptance for ultimate rejection यानी चिह्नित स्वीकृति, अन्ततोगत्वा त्याग के लिए। मतलब यह कि आधुनिक युग में यात्रा के लिए मोटरगाड़ी और हवाई जहाज का उपयोग, बिजली का उपयोग, सन्देश भेजने और प्राप्त करने के लिए कम्प्यूटर का उपयोग करना ही होगा। पर, हम इसके अधीन न हो जाएँ। यदि बिजली बन्द हो जाए तो हम असहाय की स्थिति में न आएँ। कम्प्यूटर और टेलीफोन के बराबर होने से हमारा जीवन ठहर न जाए। इसके बगैर भी हम आगे चल सकें। ऐसी स्थिति हमेशा रहनी चाहिए। बौद्ध धर्म में यह है कि 'छोड़ देने से अधिक महत्त्व है, छोड़ने की तैयारी'। यदि यह इच्छा बनी रहेगी तो चित्त शुद्धता स्वतः रहेगी। ऐसी स्थिति में व्यक्ति सिर्फ जीने के लिए हर किसी चीज से समझौता नहीं करेगा।

जो चीज संकल्प शुद्ध हो वह पाप नहीं है। यानी टेलीफोन, कम्प्यूटर, यातायात आदि के साधन का उपयोग। किसी काम को कराने के लिए रिश्वत देना और यह समझना कि रिश्वत दिए बगैर जीवन चल ही नहीं सकता, यानी जीवन को चलाने के लिए अस्वीकार्य योग्य समझौता करने को तैयार रहना, यह अनुचित है। माना किसी ट्रेन में आरक्षण कराने के लिए रिश्वत देना या यात्रा ही रद्द कर देना, दोनों में से एक चुनना हो, तो ऐसी स्थिति में हिम्मत होनी चाहिए कि व्यक्ति यात्रा न करने का निर्णय करे। यदि आप भ्रष्टाचार के विरोध में कुछ बोलते हैं तो आपका नैतिक दायित्व बढ़ जाता है।

बहुत सारे लोग यह कहते सुने जाते हैं कि यदि समाज में जीना है तो कहीं-न-कहीं समझौता करना ही पड़ेगा। जिस व्यक्ति में यह दृष्टि आ जाती है, वह किसी भी सत्यान्वेषण का अधिकारी नहीं रह जाता है। जहाँ जीवन जीना ही महत्त्वपूर्ण है, वहाँ चित्त शुद्धि का कोई महत्त्व नहीं रहता है। इस वातावरण में जो कुछ दोष है उसे देखते-समझते हुए स्वयं को सुरक्षित करना होगा। जो स्वीकार करने लायक नहीं है, उसे नकारना और उसे नकारते हुए यदि नुकसान भी उठाना पड़े तो तैयार रहना होगा। गाँधीजी ने भी 'स्वयं कष्ट उठाने' की बात कही थी। इसके लिए विवेक की

आवश्यकता है। हाँ, उसकी विवेकशीलता को दबाया न जाए, इसकी कोशिश होनी चाहिए। मनुष्य अपने अन्तःमन की आवाज सुने और अपने प्रति संवेदनशील रहे तो वह स्वयं को असत्य से बचा सकता है।

चित्त शुद्धि का प्रमाण स्वार्थ रहित होना है। जहाँ परहित केन्द्रित हो, वह चित्त शुद्धि है, जहाँ स्वार्थ केन्द्रित हो वह चित्त अशुद्धि है। यही गाँधीजी का विचार था। कोई भी कर्तव्य करते समय उसे परमार्थ की दृष्टि से देखें। स्वार्थ की दृष्टि से देखने की आदत न डालें। उदाहरण के लिए, मैं कहा करता हूँ कि जीव हत्या करना सभी धर्मों में पाप है। ऐसी स्थिति में जीव हत्या करने से पाप लगेगा और पाप का भुगतान कष्टकारी होगा, इसलिए जीव हत्या नहीं करनी है। यह चित्त शुद्धि नहीं है। यहाँ स्वार्थ की वजह से आप हिंसा करने से स्वयं को रोक रहे हैं। अपने जीवन के समान ही सभी जीवन के प्राण को महत्त्व देते हुए जीव हत्या से बचना ही स्वार्थ रहित चित्त शुद्धि है। अन्याय का विरोध उचित है लेकिन अन्यायकर्ता का विरोध गलत होगा। उसे फिर हम चित्त शुद्धि नहीं कह सकते हैं।

लेकिन जाना तो आधुनिकता में है, वह भी उत्तर-आधुनिक हो गई है पश्चिम में तो अल्ट्रा माडर्न और पोस्ट माडर्न की अवधारणा चल चुकी है। आजकल हम पोस्ट माडर्न सभ्यता में हैं। और उसमें जाने के लिए शिक्षा-पद्धति में हम क्या सुधार कर सकते हैं? यदि प्रश्न यह है तो मेरे जैसे लोग इसमें बहुत योगदान नहीं कर पाएँगे।

अहिंसा और अर्थशास्त्र

सुदर्शन आर्यंगार*

अहिंसा और अर्थशास्त्र के संबंधों की चर्चा धर्म के सन्दर्भ में आदिकाल से होती आई है। मनुष्यजन्म के उर्ध्वगामी ध्येयों में श्रेष्ठ मोक्ष-प्राप्ति है। यह ध्येय आत्मोन्नति से जुड़ा हुआ है और आत्मा के शरीर के साथ अवश्यम्भावी रूप से जुड़े होने के कारण शरीर धर्म का निर्वाह और उससे संबंधित व्यवहारों में आर्थिक व्यवहार अनिवार्य हुआ। आर्थिक व्यवहारों के कारण भौतिक संसार का निर्माण हुआ और उसके बढ़ते प्रभाव को लेकर शास्त्रों में वाद-विवाद भी हुआ है। हिन्दू धर्म में अनात्मवाद भी स्वीकृत है। शरीर का होना ही सत्य है ऐसी मान्यता और दर्शन पर आधारित अर्थशास्त्र भौतिक दुनिया का निर्माण करने के लिए ही विकसित किया हुआ है। आत्मवाद के दर्शन में भी शरीर मिथ्या नहीं है यह स्वीकृत है। शरीर धर्म निभाने के लिए भौतिक संसार की रचना सहज है परंतु इस प्रक्रिया से गुजरते हुए मनुष्य अपने आत्मोन्नति के मार्ग से भटक जाता है और इसी से मनुष्य जीवन के उर्ध्वगामी मूल्यों का टकराव मूलतः शरीरधर्म तथा भौतिक मूल्यों से होता है। प्रस्तुत लेख इस ऐतिहासिक विवाद की एक कड़ी है पर इतनी स्पष्टता के साथ कि लेखक कोई विद्वान तत्त्ववेत्ता नहीं है। अर्थशास्त्र को समझते हुए जो कुछ प्रश्न उठे हैं उनके आधार पर इस लेख में कुछ मुद्दों पर चर्चा प्रस्तुत की गयी है।

भौतिक संसार के निर्माण और विकास की प्रक्रिया में भौतिकता की घनिष्टता और तीव्रता बढ़ने पर हर तरह की हिंसा बढ़ जाती है। इसके मूल में लोभ, अति परिग्रह और अनीति है। परिग्रह का कारण और परिणाम भोग और अति भोग है। इस प्रक्रिया में सत्य और ब्रह्मचर्य का भी नाश होता है। इस तरह मनुष्य जीवन की मोक्षमुखि उदात्त यात्रा की दिशा बदल जाती है। समाज अहिंसक और संवादी होने की जगह हिंसाभिमुखी हो जाता है। भौतिक संसाधनों पर अंकुश हासिल करना, उसके द्वारा उत्पादन और उपभोग के साधनों का निर्माण करना और उनका निःसीम उपयोग

*कुलपति, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद

करना ही आर्थिक व्यवहार का मुख्य ध्येय बन जाता है। ऐसे में हिंसा छद्म और प्रकट दोनों स्वरूप धारण करती है। चूँकि हिंसा भोगवादी अर्थकारण का एक अवश्यांग ही बन जाती है, यह जानना आवश्यक है कि अहिंसा और अर्थशास्त्र का संबंध कैसा हो सकता है। अतः प्रस्तुत लेख में अहिंसा और अर्थशास्त्र के बीच के संबंधों की चर्चा की गई है। यह लेख तीन भागों में बँटा हुआ है। पहले भाग में धर्म और अर्थशास्त्र की चर्चा के आधार पर अहिंसा और अर्थशास्त्र के संबंध को समझने की कोशिश करेंगे। दूसरे विभाग में आधुनिक अर्थशास्त्र में निहित धार्मिक मूल्यों की उपस्थिति या अनुपस्थिति समझने की कोशिश करेंगे। इन मूल्यों में विशेष ध्यान अहिंसा के मूल्य पर केन्द्रित होगा। तीसरे और अंतिम विभाग में अध्यात्मोन्मुखी धर्म और शरीरधर्म आर्थिक व्यवहारों के बीच शरीरधर्म की अनिवार्यता के सन्दर्भ में अहिंसा के मूल्य पर आधारित अर्थव्यवस्था की संभावना का परीक्षण करेंगे।

1

भारत देश में अर्थ व्यवहार संबंधी शास्त्रीय चर्चाएँ आत्मवादी और अनात्मवादी दोनों विचारधाराओं में हुई हैं। आत्मवादी विचारधारा के अनुसार मनुष्य का अस्तित्व मात्र शारीरिक नहीं है और आत्मा का अस्तित्व स्वीकृत है। मनुष्य जीवन का मूल ध्येय आत्मोन्नति और मोक्ष है। अतः मनुष्य का व्यक्तिगत और सामूहिक आयास मूल ध्येय की दिशा में ही है। विश्व के लगभग सभी संस्थीकृत धर्मों में शरीरधर्म जीवन व्यवहार में व्यक्तिमूलक नैतिक मूल्यों का प्रवेश कराकर व्यक्तिगत और सामूहिक व्यवहार को मूल ध्येय की दिशा देने की कोशिश की गई है। यह प्रयत्न अधिक सफल नहीं हुआ है परंतु इसकी कोशिश अभी भी जारी है और लगता है कि जारी रहेगी। मनुष्य जीवन की यात्रा में यह प्रयत्न अथक है। इस विचारधारा के ठीक विपरीत अनात्मवाद शरीर के अस्तित्व को ही परम सत्य मानकर सामूहिक अस्तित्व को टिकाने के लिए व्यवहार नीतियों का निर्माण करता है।

धर्म को समग्र दृष्टि से समझने से धर्म में ही अर्थ, काम और मोक्ष का समावेश हो जाता है और इस भाँति अर्थ भी धर्म है। परंतु पृथक दृष्टि से देखें तो अर्थ शरीर केन्द्री और धर्म आत्मा केन्द्री है। अर्थ का अनुष्ठान लौकिक सुखकारी के लिए है। हिन्दू शास्त्रों की धर्मदृष्टि में यह स्पष्ट है कि आत्मा शरीर के बिना अकेले ही धर्म का आचरण नहीं कर सकती है। शरीर मात्र पाँच यम, नियम, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और अस्तेय के सहारे टिक नहीं सकता। उसे अन्न-वस्त्रादि की आवश्यकता होती ही है। और इसके लिए भौतिक साधनों की जरूरत भी होती ही है। प्रश्न अर्थ को धर्म के अनुकूल करने का है।¹ इसमें कभी धर्म सफल हुआ है तो कभी दोनों में विरोध तीव्र हुआ है। अर्थ व्यवहार की नींव में धर्म मूल्य तो हैं ही। आर्थिक व्यवहार बिना सत्य और अहिंसा के नहीं चल सकता है। विश्वास के बिना व्यापार कैसे संभव

हो पाएगा। परंतु व्यापार में मिथ्या प्रवेश भी होता ही है। अर्थ-व्यवहार में इस प्रकार की परिवर्तनशील भूमिका को देखते हुए पंडित ईश्वरचन्द्र शर्मा लिखते हैं, “इस कारण धर्मशास्त्र की दृष्टि में व्यापार ऋतानृत है”²। अर्थात् अर्थ का व्यवहार सत्य और मिथ्या मिश्रित है।

लोकतन्त्र से बहुत पहले राजाओं के काल ही से भारत और पृथ्वी के अन्य भू-भागों में राजनैतिक अर्थशास्त्र³ प्रचलित हो चुका था। इन अर्थशास्त्रों में आत्मलक्षी धर्ममूल्य दिखाई तो पड़ते हैं परंतु अर्थ की सिद्धि के लिए व्यवहारकुशल व्यवस्था पर ही भार नजर आता है। इस सन्दर्भ में हम कौटिल्य के अर्थशास्त्र को थोड़ी गहराई से देखेंगे। और उदाहरण भी देकर अर्थ और धर्म के संबंध को समझा जा सकता है पर हम कौटिल्य पर अधिक ध्यान केंद्रित करेंगे, चूँकि धर्म और अर्थ के संघर्ष की चर्चा जितनी भारत में हुई है उतनी शायद ही बाहर की दुनिया में हुई होगी। साथ में यह मर्यादा भी है कि बहुत व्यापक चर्चा को इस एक ही लेख में समाविष्ट कर लेना संभव नहीं होगा। एक अन्य सबल कारण यह भी है कि अति प्राचीन अर्थशास्त्र उपलब्ध नहीं है और कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में उस ज्ञान का अच्छा संकलन कर लिया है ऐसा वह स्वयं आरंभ में पहले ही श्लोक में कहते हैं⁴ :

*पृथिव्यालाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः
प्रस्तावितानि प्रायशस्तानि संहत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम॥१॥*

पश्चिमी समाज में वास्तवदर्शी अर्थशास्त्र का विकास हुआ उससे बहुत ही पूर्व भारत में उसकी नींव पड़ चुकी थी। मात्र इतना ही नहीं पर उसको एक तरह से धर्म की स्वीकृति भी मिल गई थी। इसका कारण यह था कि अर्थ का स्वरूप स्थूल है और मनुष्य उसे इन्द्रियों से महसूस कर सकता है। जहाँ वह प्रत्यक्ष नहीं है वहाँ प्रत्यक्ष-मूलक अनुमान से स्थापित किया जा सकता है। मनुष्य के हवा में और उसके पश्चात ब्रह्माण्ड में उड़ान भरने के लिए साधनों का आविष्कार करना यह प्रत्यक्ष-मूलक अनुमानों के और उनसे स्थूल स्वरूपों को सिद्ध करने के उदाहरण हैं। स्थूल पर अधिकाधिक ध्यान केंद्रित करने के कारण मनुष्य अतीन्द्रिय बना और अर्थ व्यवहारों के आधार पर बना अर्थशास्त्र आत्मवादी विचारों और स्थापनाओं से विमुख हो गया। उन पर शास्त्र का विश्वास शिथिल होता गया। लाभ संबंधी विचारों को रखते हुए कौटिल्यीय अर्थशास्त्र में कहा गया है⁵

*नक्षत्रमतिपृच्छन्तं बालमर्थो अतिवर्तते ।
अर्थो ह्यअर्थस्य नक्षत्रं किं करिष्यन्ति तारकाः ॥३७॥
नाधनाः प्राप्नुवन्त्यार्थान्नरा यत्नशतैरपि ।
अर्थैरर्थाः प्रबध्यन्ते गजाः प्रतिगजैरिव ॥३८॥*

इस श्लोक का संक्षिप्त अर्थ इतना ही है कि जो अजान अबोध लाभ के लिए नक्षत्रों वगैरह की पूछताछ करते रहते हैं, कार्यसिद्धि उनको छोड़कर आगे निकल जाती है। जिस तरह हाथी को पकड़ने के लिए हाथी की ही जरूरत होती है वैसे अर्थ के लिए अर्थ ही नक्षत्र हैं, तारें क्या कर सकते हैं।

उपरोक्त श्लोक को चाहें इतना महत्त्व न दें चूँकि कौटिल्य ने कई स्थलों पर शासन में नीति की बात भी रखी है, परंतु शास्त्र के आधार में कुछ ऐसी स्थापनाएँ हैं कि शास्त्र आत्मवादी धर्मनीति से विमुख तो होता ही है। जितना पंडित शर्मा समझते हैं उतने दर्जे तक कौटिल्य अनात्मवादी विचारकों का समर्थन नहीं करते हैं⁶। कौटिल्य प्रथम अधिकरण के दूसरे अध्याय से अलग-अलग विद्याओं की स्थापना करते हैं और अंत में अपना पक्ष रखते हैं। अपना पक्ष रखने से पहले वे शास्त्रों में स्वीकृत विद्याओं को परिभाषित करते हैं। आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दंडनीति यह चार विद्याएँ हैं। मनु और उनके मत को माननेवाले आन्वीक्षिकी को अलग विद्या न मानकर उसे त्रयी का भाग बताते हुए तीन विद्याओं को ही स्वीकार करते हैं। आचार्य बृहस्पति वार्ता और दंडनीति को ही स्वीकार करते हैं। यह मत आचार्य चार्वाक और उनके सिद्धांतों का प्रतिपादन करने वालों का भी रहा है। कौटिल्य के अनुसार बृहस्पति चार्वाक के अनुगामी हैं⁷। मात्र लौकिक अस्तित्व को मानने वाले लोकायतिक (चार्वाक और उनके अनुयायी) त्रयी अथवा वेद विद्या को आडंबर मानते हैं। शुक्राचार्य, जो असुरों के गुरु व आचार्य हैं, वे और उनके अनुगामी सिर्फ दंडनीति को ही विद्या मानकर यह दर्शाते हैं कि दंडविद्या में ही अन्य सभी विद्याओं का समावेश हो जाता है।

उपरोक्त चर्चा इसलिए प्रस्तुत है क्योंकि शरीरधर्म निभाव तथा आत्मोन्नति के लिए कौन-सी विद्याओं पर विशेष भार देना होता है वह स्पष्ट हो सकता है। त्रयी अथवा वेदविद्या मनुष्य को धर्म-अधर्म की व्याख्या कर उसके भेद बताती है। वार्ता लौकिक संसार के कर्म कृषि, व्यापार व धनवृद्धि विद्या का संग्रह है। अर्थशास्त्र का उद्भव स्थान वार्ता हो सकता है। दंडविद्या में राजनीति तथा कुटिलनीति का विवेचन होता है। आन्वीक्षिकी विद्या के बारे में कौटिल्य ने कहा :

*बलाबले चौतासां हेतुभिरन्वीक्षमाणा लोकस्योपकरोति व्यसनेअभ्युदये
च बुधिमवस्थापयति प्रज्ञावाक्यक्रियावैशारध्यंच करोति⁸ ।*

इन विद्याओं (त्रयी, वार्ता और दंड) की सार्थकता और निरर्थकता को हेतुवाद से सिद्ध कर संसार का उपकार करना, विपत्ति और सम्पत्ति में बुद्धि स्थिर रखने की शिक्षा देना, बुद्धिमत्ता, वाक्चातुर्य तथा कार्य में कुशलता उत्पन्न करना ये सभी कार्य आन्वीक्षिकी विद्या के कार्य हैं। आन्वीक्षिकी विद्या विज्ञानशास्त्र भी कहलाती है और न्यायविद्या भी। इस विद्या विशेष को इतना महत्त्व देने के बाद कौटिल्य अगले ही

अध्याय में दंडनीति के महत्त्व पर आ जाते हैं, और कहते हैं कि दंडनीति पर ही विश्वास करने वाले यही मानते हैं कि सभी विद्याओं का योग्य संचालन अच्छी और सबल दंडनीति के बल से ही हो सकता है अतः किसी भी राजा को अपनी दंडनीति को निर्बल नहीं होने देना चाहिए। जिस राजा की दंडनीति कठोर होती है वही राजा सफल होता है। परंतु कौटिल्य कठोर दंडनीति का प्रतिपादन नहीं करते हैं और कहते हैं, 'नेति कौटिल्य'। कौटिल्य मानते हैं कि त्रयी, वार्ता और आन्वीक्षिकी विद्याएँ दंडनीति के अधीन ही होती हैं परंतु राजा को नरम दंडनीति का आधार लेना चाहिए और दंडनीति का संचालन विवेकपूर्ण होना चाहिए।

कौटिल्य की स्थापनाओं को थोड़ी गहराई से देखें तो पता चलता है कि शरीरधर्म के निभाव के लिए आर्थिक व्यवहार का तन्त्र और उसका संचालन दंडनीति के आधार पर ही रहेगा, पर उस दंडनीति में अन्य विद्याओं का समावेश भी होगा ही। इसकी मुख्य जवाबदारी राजा की और उसके बनाए अधिकारी वर्ग की होगी। त्रयी और आन्वीक्षिकी विद्या को तिरस्कृत कर बृहस्पति और शुक्राचार्य के मार्ग पर वार्ता और दंडनीति पर ही आधार रखकर राजा चलेगा तो या तो लोकायतिक सिद्धांतों की पुष्टि होगी अथवा मात्र दंडनीति के सहारे चलने वाले आर्थिक व्यवहारों में प्रजाजन पर अत्याचार होगा। मात्र दंडनीति से शासन करना असुर संस्कृति की पहचान थी। आसुरी संस्कृति भी अनात्मवादी विचारधारा का प्रतिपादन करती है। आसुरी संस्कृति में शरीर का अस्तित्व ही मुख्य है। मात्र वार्ताविद्या में ही आस्था और मान्यता रखने वाले और उसका प्रतिपादन करने वाले चार्वाक और उनके अनुयायी हुए। चार्वाक भी अनात्मवादी थे। इस विचारधारा में समस्त मनुष्य जीवन शरीर से आरंभ होकर शरीर के साथ ही शेष हो जाता है। इसलिए शरीर सुख ही अन्तिम है। ऐसी सभ्यता सम्पूर्ण तौर पर शरीर केन्द्री होती है। चार्वाक या लोकायतिक विचारधारा एक अथवा दूसरे स्वरूप में हर काल में प्रवर्तमान रहती है। चार्वाक के सिद्धांतों को आज भी हम प्रदिपादित होते देख पा रहे हैं। ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत, यावत् जिवेत सुखं जिवेत में आस्था रखते हुए पश्चिमी समाज का आम नागरिक बहुमत अनात्मवादी ही हो गया है अथवा उसका पूरा ध्यान शरीर तक सिमटकर रह गया है।

उसी तरह राजा अथवा शासक वर्ग भी अगर प्रमादी, शरीर-प्रेमी व भोगी होगा तो वह प्रजा का भौतिक और आत्मिक कल्याण दोनों ही नहीं कर पाएगा। कौटिल्य अर्थशास्त्र के प्रथम अधिकरण का छठवाँ अध्याय इन्द्रियजय पर है। जो राजा इन्द्रियों के वश में हो गए उनका किस तरह से हास हुआ और किस तरह उनकी प्रजा का विनाश हुआ यह इस अध्याय में दर्शाया है। इसलिए राजा तथा शासक वर्ग को भी षड्रिपुओं को जीतना ही होगा। षड्रिपुओं को जीतने का अर्थ है कि त्रयी और आन्वीक्षिकी विद्याओं के सहारे अपने व्यक्तित्व को नैतिक स्तर पर निखारना और वार्ता विद्या के घटकों का आयोजन कर और दंडनीति के आधार पर उनका संचालन

करना। इस तरह पहली दो विद्याएँ व्यक्ति को केन्द्र में रखकर व्यक्ति की समझ को बढ़ाना है और विवेक को विकसित करना है। यह विद्याएँ समाज के हर एक व्यक्ति के लिए आवश्यक हैं। इन विद्याओं के दर्शनानुसार जीने के लिए और राज्य संचालन की साधना करने के लिए नियमों का पालन करना होता है। व्यक्ति विकास के लिए बने नियम ही यम नियम हैं। इन यम नियमों से एक अहिंसा है। इस तरह कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजा और प्रजा के पास यह अपेक्षा है कि वे अपने और अन्य के सुचारु संचालन के लिए षड्रिपु पर विजय पाने का निरंतर प्रयास करते रहेंगे और इस माध्यम से अहिंसा के मूल्य से जुड़े रहेंगे। इतनी स्पष्टता आवश्यक है कि तन्त्र संचालन के लिए दंडनीति का ही विधान है और राजकीय तथा सामाजिक व्यवहार संचालन में अहिंसा का होना अनिवार्य नहीं माना गया। उल्टे दंडविधान में हिंसा अनिवार्य है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अर्थव्यवहारों में अनीति करने पर अधिकतर तो मुद्राओं के स्वरूप में दंडविधान है पर कहीं-कहीं हिंसक दंड का भी प्रावधान है। सारानुरूप देखें तो कौटिल्य के अर्थशास्त्र के समाज-दर्शन में अहिंसा मूल्य के रूप में विद्यमान है चाहे वह परोक्ष तौर पर ही है।

पश्चिमी समाज की बौद्धिक भाषा के अनुरूप कहें तो कौटिल्य का अर्थशास्त्र पॉजिटिव इकोनॉमिक्स नहीं है, उसमें नॉरमेटिव इकोनॉमिक्स के तत्त्व विद्यमान हैं। इस तरह तन्त्र की स्थापना के लिए व्यक्ति विशेष के कर्तव्य भी अति आवश्यक हैं। मात्र तन्त्र निर्माण से ही मूल्यनिष्ठ शासन और आर्थिक व्यवहार संभव नहीं है ऐसा स्पष्ट हो जाता है। शासन करने वाल राजा हो या शासित प्रजाजन की इकाई, उस इकाई का मूल ध्येय और इसलिये देह धर्म मोक्षाभिमुखी होगा, ऐसा मानकर षड्रिपु को अंकुश में करना ही श्रेष्ठ कर्तव्य माना गया है। यही स्थापना गांधीजी की भी है और इसके बारे में इस लेख के तीसरे विभाग में विस्तार से देखेंगे। अर्थ शरीर के और धर्म आत्मा के कल्याण का साधन है। अर्थशास्त्र में अर्थ का अधिक प्रतिपादन होगा यह समझ में आ जाता है पर उसमें धर्म का सर्वथा अभाव हो जाए यह सोचना एकदम गलत होगा। अर्थशास्त्र कई अवसरों पर धर्म से दूर हो जाता है ऐसे समय में शास्त्र स्पष्ट है। जहाँ धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र का विरोध हो, वहाँ धर्मशास्त्र बलवान है।

अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः⁹

हिन्दू धर्म के मूल मूल्यों से निर्मित हुए दो और धर्म हैं, जैन और बौद्ध धर्म। दोनों ही धर्मों में अर्थशास्त्र के बारे में विचारणा की गई है। जैन धर्म का मूल धर्म ही अहिंसा है। स्वाभाविक है कि इस धर्म का पालन करने वालों के लिए व्यवहार में भी अहिंसा का पालन आवश्यक होगा। भगवान महावीर, जो चौबीसवें तीर्थंकर हुए, उन्होंने त्याग और संयम के दो मुख्य नियम प्रस्थापित किए। इन नियमों से एक और नियम अपरिग्रह निष्पन्न हुआ। आर्थिक व्यवहारों में अपरिग्रह का पालन करने से

अहिंसा अपने-आप स्थापित होती है। वर्तमान साहित्य में महावीर के इस योगदान का अच्छा वर्णन आचार्य महाप्रज्ञ ने किया है।¹⁰ और उनके ज्ञान के आधार पर एस. एल. गाँधी ने एक लेख में भगवान महावीर के योगदान की उपयुक्त चर्चा की है। पहले महावीर स्वामी के विचार तत्त्व को आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में देखें।

महावीर स्वामी के दर्शन में हिंसा और परिग्रह दोनों ही आत्मा और चेतना विकास में बाधक हैं। इस तरह अपरिग्रह ही महावीर स्वामी के आर्थिक व्यवहार में नीति का बीज मंत्र है। आचार्य महाप्रज्ञ लिखते हैं कि हिंसा और परिग्रह तथा अहिंसा और अपरिग्रह अलग शब्द प्रतीत होते हैं और उनके अर्थ भी अलग मालूम होते हैं परंतु दोनों ही शब्दयुग्म सहवर्ती हैं। परिग्रह और अपरिग्रह कारण हैं, हिंसा और अहिंसा परिणाम हैं। आचार्य महाप्रज्ञ जैन अर्थशास्त्र को अहिंसा सापेक्ष मानते हैं। आचार्य महाप्रज्ञ के विचारों का ही विस्तार करते हुए एस. एल. गाँधी अपने लेख में महावीर स्वामी के आर्थिक विचार तत्त्व को समझाते हैं।¹¹ गाँधी के अनुसार महावीर स्वामी ने मनुष्य की इच्छाओं व उसके व्यवहार का सूक्ष्म अध्ययन करके संयम और अंकुश के लिए बारह सूत्र बनाए जिनमें पाँच मुख्य और शेष सात पूरक हैं। *स्थूल प्रणतिपतविरमन, स्थूल प्रसवदविरमन, स्थूल अदत्तदानविरमन, स्थूल मैथुनविरमन* और *स्थूल परिग्रहविरमन* यह पाँच मुख्य अणुव्रत हैं।¹² सात पूरक अणुव्रतों के अर्थ कुछ ऐसे हैं : अत्यधिक दूरियों तक यात्राएँ न करना, आस-पास के पर्यावरण को विचार, शब्द या कर्म से तहस-नहस नहीं करना, नियत समय के लिए पाप वृत्तियों से दूर रहना, पवित्र दिवसों में उपवास करना, एकान्त स्थलों पर विशेष मर्यादाओं का पालन करना, घुमन्तू संतों को दान देना और भोग्य व अभोग्य पदार्थों का मर्यादित उपभोग करना। इनमें से एक यथासमिविभग व्रत कहलाता है, जिसका यह अर्थ भी है कि संसाधन, खाद्य सामग्री और अन्य दैनिक उपयोगी पदार्थों का आपस में मिल-बाँटकर उपयोग करना। भगवान महावीर कहते हैं, जो ऐसा करने से कतराता है वह कभी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। एस. एल. गाँधी सही लिखते हैं कि महावीर स्वामी का एक यही पूरक अणुव्रत मूल्यनिष्ठ अर्थकारण की स्थापना में पूरा सहायक हो सकता है। इस तरह जैन धर्म का अपना अलग अर्थशास्त्र न होते हुए भी, अर्थ व्यवहारों में अपरिग्रह और यथासमिविभग व्रत के पालन से व्यक्तिगत स्तर पर अहिंसा की स्थापना होती है और व्यक्ति स्तर की स्थापना से समष्टि स्तर की स्थापना की ठोस नींव पड़ती है।

बौद्ध धर्म में सामान्य मानव को अपना दैनिक व्यवहार किस तरह से चलाना चाहिए इस पर अधिक विचार हुआ है और उससे संलग्न विचार भी रखे गए हैं। बौद्ध धर्म का मूल मूल्य करुणा है। इस मूल्य से निर्मलता ही प्रकट होती है। अन्य धर्म शास्त्रों में रहे आर्थिक दर्शनों की चर्चा-विचारणा की तुलना में बौद्ध धर्म में रहे आर्थिक विचार दर्शन की चर्चा अधिक और ठोस हुई है, बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ब्रिटिश

अर्थशास्त्री ई. एफ. शुमाकर ने 'बुद्धिस्ट इकोनॉमिक्स' को प्रचलित किया। उनकी समझ में बौद्ध अर्थशास्त्र के सिद्धांतों में मानव सभ्यता का हार्द निर्मल और पवित्र मानव चरित्र है। केन्द्र में मानव है पदार्थ नहीं और केन्द्र में उपभोग नहीं सर्जनात्मक क्रियाशीलता है।¹³ बुद्ध के उपदेश में सत्य की खोज अथवा आत्मखोज की ओर जाने के लिए *आर्य अष्टांगिकमार्ग* का विधान है। यहाँ आर्य का अर्थ पवित्रता से भी है। इन आठ मार्गों में से एक मनुष्य के आर्थिक व्यवहारों से सीधा संबंधित है। पर पहले ये भी जान लेना चाहिए कि इस *आर्य अष्टांगिकमार्ग* के दो प्रमुख भाग हैं। प्रथम *दर्शन-मार्ग* है और द्वितीय *भावना-मार्ग* है। अष्टांग मार्गों में एक मार्ग *दर्शन-मार्ग* से जुड़ा है और वो है *सम्यग् दृष्टि*। यहाँ दृष्टि का सीमित अर्थ देखने मात्र से नहीं है। यहाँ दृष्टि का तात्पर्य दर्शन से ही है। *भावना-मार्ग* के लिए प्रशस्त अन्य सात मार्गों में से एक और महत्त्वपूर्ण मार्ग *सम्यग् आजीव* या *सम्मा आजीव* है।¹⁴

बुद्ध भगवान के मूल उपदेश में मात्र इतना इंगित है कि किस तरह के आर्थिक व्यवहार वर्जित होने चाहिए। इस उपदेश के अनुसार कोई भी आजीविका या व्यवसाय जो किसी अन्य जीव को हानि अथवा पीड़ा पहुँचाए अथवा व्यक्ति के अन्तर को पतन की ओर ले जाए वह नहीं करना चाहिए। आजीविका नेक, शांतिमय तथा हानिरहित व्यवसायों द्वारा ही प्राप्त करनी चाहिए। भगवान बुद्ध ने पाँच व्यवसायों को निषिद्ध माना था। वे थे, कसाई व माँस का व्यवसाय, विष का व्यापार, युद्ध के हथियारों का व्यवसाय, दास तथा गणिकाओं का व्यवसाय, और शराब और नशीली दवाओं तथा तत्त्वों का व्यवसाय। इनके साथ-साथ भगवान बुद्ध ने आडंबर, ठगी, छल-कपट और हर प्रकार के गोरख व्यवसायों को भी अपने अनुयायियों के लिए निषिद्ध बताया था। बुद्ध के उपदेश को व्यापक अर्थ में समझें तो *सम्मा आजीव* अहिंसा समाज की कुंजी है। जीव सृष्टि मात्र की ओर अहिंसा भाव रखते हुए अपनी आजीविका चलाना ही बौद्ध अर्थशास्त्र की नींव है। जीव सृष्टि पर की अहिंसा का भाव करुणा का भाव है। इस प्रकार बौद्ध धर्म में अहिंसा करुणा का स्वरूप धारण करती है। यही करुणा अनुकंपा में परिवर्तित होकर सम्मा आजीव की ओर ले जाती है।

उपरोक्त सन्दर्भ में कुछ वर्षों पूर्व ही एक व्याख्यान में बौद्ध अर्थशास्त्र का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए रूसी अर्थशास्त्री स्टान्सिलाव मॅनशिकोव ने कहा था कि, परमार्थी होना और करुणावान होना दोनों एक ही बात नहीं है। बिना करुणावान हुए या बिना किसी अनुकंपा के परमार्थी हुआ जा सकता है। पर अनुकंपा से किया हुआ परमार्थ गुणात्मक तौर पर ऊँचा होता है। तिब्बत हाउस में २००५ में दिए चौदहवें पद्मपाणि व्याख्यान में¹⁵ परमार्थ और अनुकंपा के बीच भेद करते हुए उन्होंने कहा है कि परमार्थ कि प्रक्रिया में अपने उपभोग और संतोष में किसी भी प्रकार की कमी लाए बिना दूसरों को कुछ दान स्वरूप में देकर उनका कल्याण बढ़ाया जाता है। अनुकंपा की प्रक्रिया में अपने उपभोग में से ही कुछ अंश निकालकर औरों के कल्याण के लिए

दिया जाता है। यह गुणात्मक अंतर है। पहली प्रक्रिया में औरों को स्वेच्छा से देने पर भी कुल संसाधनों का उपयोग बढ़ता है, जब कि अनुकंपा से प्रेरित कार्य उपलब्ध संसाधनों से ही कल्याण वितरण की समानता में वृद्धि करता है। उन्होंने इस भाव को बौद्ध अर्थशास्त्र में विकसित किया है। दोनों ही अर्थों में बौद्ध अर्थशास्त्र अहिंसा के अधिक निकट है।

भारत मूल के धर्मों की तरह विश्व के अन्य धर्मों में भी अर्थव्यवस्थाओं में नीतिमत्ता की बात भारपूर्वक कही गई है। सादगी और ईमानदारी से आजीविका चलाने के उपदेश इसाई और इस्लाम धर्मों में मिलते हैं। इतनी बात को ध्यान में रखते हुए विश्व के धर्मों में अर्थकारण और अर्थव्यवस्थाओं में अहिंसा का मूल्य स्थापित है ऐसी स्थापना करते हुए, आधुनिक अर्थशास्त्र में अहिंसा का क्या स्थान है यह हम अगले विभाग में देखेंगे।

2

आधुनिक अर्थशास्त्र अधिक पुराना नहीं है। उसका इतिहास कोई तीन या साढ़े तीन सौ वर्ष पुराना कहा जा सकता है। आधुनिक अर्थशास्त्र का उद्भव स्थान यूरोप और फलने-फूलने का स्थान अमेरिका है। संस्कृतियों के अलगवाव के सन्दर्भ में इन समाजों को पश्चिमी समाज कहा जाता है और भारत-चीन-जापान और सुदूर पूर्वी देशों का समाज पूर्वी समाज कहलाता है। इन दो भौगोलिक विस्तारों की संस्कृतियाँ भी भिन्न रही हैं अतः उनकी पहचान भी भिन्न है। एक बहुत ही लंबे समय तक दोनों ही संस्कृतियों में आर्थिक व्यवहार के अभ्यास की इकाई व्यक्ति रहा चूँकि व्यक्ति के आर्थिक व्यवहारों की सामाजिक असरों का मूल्यांकन समष्टि के लिए स्थापित नैतिक मूल्यों के आधार पर ही होता था और व्यवहार के नैतिक मूल्य धर्म से जुड़े हुए थे। इहलोक और परलोक की स्थापना पूर्व तथा पश्चिम दोनों ही धर्मों में थी और लौकिक व्यवहार का असर मनुष्य के अलौकिक जीवन पर होता है ऐसी दृष्ट मान्यता थी। आधुनिक अर्थशास्त्र के विकसित होने में इस स्थापना का टूटना एक बड़ी महत्वपूर्ण घटना है, अलबत्ता इसे टूटने और नई स्थापना को स्थापित होने में कुछ शताब्दियाँ लगीं।

इस विभाग में हम यह देखने-समझने की कोशिश करेंगे कि किस तरह व्यक्ति और समष्टि के स्तरों पर आर्थिक व्यवहार प्रणालिगत धर्मों से अलग हुए और नैतिक स्थापनाओं से स्वतन्त्र बौद्धिक स्थापनाएँ हुई जिन्हें वस्तुनिष्ठ, तर्कसिद्ध और वैज्ञानिक माना जाने लगा और इन स्थापनाओं का आदर बढ़ गया। कौटिल्य के विचार व्यवस्था में इनका विचार करें तो आधुनिक अर्थशास्त्र ने अपने विकास की प्रक्रिया में त्रयी (वेद विद्या व मूल्य या धार्मिक मूल्य) को संपूर्णतः त्याग कर लोकायतिक (चार्वाक) और

दंडनीति को आन्वीक्षिकी से जोड़ दिया। हमने पहले यह जताया है कि आन्वीक्षिकी विद्या सार्थकता और निरर्थकता को हेतुवाद से सिद्ध कर संसार का उपकार करने, विपत्ति और सम्पत्ति में बुद्धि स्थिर रखने की शिक्षा देने, बुद्धिमत्ता, वाक्चातुर्य तथा कार्य में कुशलता उत्पन्न करने की विद्या है। मूल्य स्थापना त्रयी व लोकायतिक दर्शन से होती है। आधुनिक अर्थशास्त्र ने अपने-आप को धर्म से विमुख कर आन्वीक्षिकी के आधार पर अपने को वैज्ञानिक घोषित कर दिया और इस नए और वैज्ञानिक अर्थशास्त्र को मूल्य निरपेक्ष बना दिया। पर वह है नहीं। इस नए वैज्ञानिक अर्थशास्त्र में मूल्य छद्म स्वरूप में विद्यमान हैं, यह भी देखने का प्रयत्न करेंगे।

आन्वीक्षिकी पर ही सारा भार डालते हुए जो ठोस रूप से प्रमाणित हो सकता है वही वैज्ञानिक है और जो वैज्ञानिक है वही सत्य है ऐसी स्थापना का प्रारंभ इसा की सत्रहवीं शताब्दी में हुआ। इस युग में यूरोप में बहुत दिग्गज बौद्धिक हुए जिन्होंने मिलकर पृथ्वी-ब्रह्मांड तथा उनकी भौतिकी की नई समझ खड़ी कर दी। सारे अर्थ बदल गए। मनुष्य के पृथ्वी-ब्रह्मांड की कल्पनाएँ और विभावनाएँ बदल गईं। अंग्रेजी में इसे *पेराडाइम शिफ्ट* कहते हैं। इस युग को 'एज ऑफ एन्लाइटनमेंट' संस्कार-प्रबुद्ध युग कहते हैं। भौतिक विज्ञान के नए क्षितिज खुले और इनका असर समाज विद्याओं पर भी हुआ। इसका संक्षिप्त विश्लेषणात्मक विवरण बीसवीं सदी के भौतिक शास्त्री फ्रिट्ज़ाफ काप्रा ने अपनी एक पुस्तक में दिया है।¹⁶ इस काल के कुछ पूर्व ही यानी चौदहवीं तथा पंद्रहवीं शताब्दियों में कला व साहित्य के क्षेत्रों में वैचारिक एवम् अभिव्यक्ति की क्रांति आई थी जिसे रेंनेसां के नाम से जाना जाता है। सोलहवीं शताब्दी में जर्मनी के एक इसाई पादरी मार्टिन लूथर ने साधारण मानव के जीवन में चर्च के अतिहस्तक्षेप को ललकारा और ये स्थापित किया कि एक गृहस्थ अगर पूरे नेकनिष्ठा से कुटुंब पालन करता है तो वह भी भगवान की कृपा का उतना ही अधिकारी है जितना कोई विरक्त और मुक्त मानव जो मात्र भगवान की भक्ति में ही लीन है।

उपरोक्त विभावना के पीछे धार्मिक विवाद के कारण जो भी रहे हों, परंतु इससे सामान्य जन जीवन की रीति-नीति में क्रांति हो गई। एक नई नैतिकता का जन्म हुआ जिसका नामाभिधान हुआ प्रोटेस्टेंट एथिक्स।¹⁷ यह धार्मिकता और पवित्रता की भी नई पहचान थी। स्थापना इस प्रकार की हुई कि अगर सामान्य मनुष्य अपने लौकिक कार्यों को नेकी, निष्ठा और त्याग भावना से करता है और ऐसा करते हुए अपने परिवार का पालन करता है तो वह धार्मिक दृष्टि से पवित्र और भगवान का कृपापात्र बनता है। ऐसा करते हुए अगर उसके पास स्थूल सम्पत्ति संग्रहित होती है तो उसे पापाचार नहीं माना जाएगा। मात्र इतना अपेक्षित था कि जीवन-निर्वाह में वृत्ति उपभोग की न होकर बचत की हो। इस तरह परिग्रह को धार्मिक (नैतिक) मान्यता मिल गई और पूंजी संचय का मार्ग प्रशस्त हो गया।

इस सन्दर्भ में कई और मूल्यों में हुए परिवर्तन को समझ लेना उचित रहेगा। रेनेसां के आते-आते वित्त व्यवहार में ब्याज मान्य हो गया था। ज्ञातव्य है कि यहूदी, इसाई तथा इस्लाम धर्मों में ब्याज का व्यवहार निषिद्ध माना गया था और उसे पाप समझा जाता था। पूंजी संचय और ब्याज की मान्यता के साथ पश्चिमी सभ्यता में पूंजीवाद का आविर्भाव हो गया। एन्लाइटनमेंट के साथ वैज्ञानिक क्रांति हुई और भौतिक उत्पादन के नए क्षितिज खुले, आर्थिक व्यवहारों में स्पर्धा का प्रवेश हुआ। इन सबके परिणामस्वरूप औद्योगिक क्रांति हुई। इसी प्रक्रिया में आधुनिक अर्थशास्त्र का स्वरूप निखरा। इस नए अर्थशास्त्र में 'आर्थिक मानव' की विभावना प्रकट हुई। जैसे तो यह अमूर्त स्वरूप में है, परंतु आर्थिक व्यवहारों में इसका अस्तित्व वास्तविक ही मान लिया जाता है। इस आर्थिक मानव की विभावना को थोड़ा समझें। अर्थशास्त्र में मानव अपनी अभिरुचियों और माँग के साथ बाजार में प्रवेश करता है। उसका उद्देश्य अपनी तुष्टि को (जो मापी जा सकती है) उसे अधिक-से-अधिक संतुष्ट करना है। बाजार में वस्तुओं और सेवा की कीमतें तय होती हैं और मानव उपभोक्ता के रूप में अपनी विनिमय शक्ति, जो बहुधा मुद्रा के स्वरूप में होती है, से चुका कर महत्तम तुष्टि प्राप्त करने की कोशिश करता है। वस्तुओं और सेवाएँ बेचने वाला अपना लाभ महत्तम लेना चाहता है। इस तरह उत्पादक और उपभोक्ता दोनों ही भूमिका में मानव अपने संतोष को महत्तम बनाने का प्रयत्न करता है और इस प्रक्रिया में वह शुद्ध तार्किक व्यवहार करता है। हर मानव के ऐसा करने पर बाजार खड़ा होता है जहाँ कोई एक इकाई कीमतों पर अपना असर नहीं डाल सकती। कीमतें माँग और आपूर्ति पर अपने से तय होती हैं। इस प्रक्रिया में कहीं पर भी दया, दान, करुणा, अनुकंपा नहीं है। उत्पादन और उपभोग के सभी संसाधनों का उपयोग भी इष्टतम हो जाता है। कहीं किसी धार्मिक मूल्य या स्थापना की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

आधुनिक अर्थशास्त्र में संसाधनों के आवंटन और आय वितरण के सन्दर्भ में समता का मूल्य स्थापित हुआ है और इस मुद्दे पर गंभीर विवाद भी है। पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में इकाई के स्तर पर स्थापित आर्थिक मानव का तार्किक व्यवहार आदर्श बाजार की स्थिति नहीं उत्पन्न कर सकता है। अतः इस प्रकार के मूल्य निरपेक्ष अर्थ व्यवस्थाओं में भी नीति और मूल्य के प्रश्न खड़े हुए हैं। आदर्श बाजार और स्पर्धा के मूल्य निरपेक्ष आधार पर पूंजीवाद बहुत फूला-फला, परंतु, काल मार्क्स जैसे क्रांतिकारी विचारकों ने इस व्यवस्था की कटु आलोचना भी की और बताया कि किस तरह से इस व्यवस्था में श्रम प्रदान करने वालों का शोषण होता है और किस तरह विषमताएँ खड़ी होती हैं। इस आलोचना के आधार पर ही साम्यवाद की रचना हुई। ध्यान देने वाली बात यह है कि कार्ल मार्क्स भी अपने-आपको उतना ही वैज्ञानिक सिद्ध करना चाहते हैं और अपने विश्लेषण को भी मूल्य निरपेक्ष ही दर्शाना चाहते हैं। इस तरह पूंजीवादी और साम्यवादी अर्थशास्त्र की विचारधाराएँ मूल्य निरपेक्ष वैज्ञानिक विश्लेषण

द्वारा आर्थिक व्यवहारों का संचालन करने का शास्त्र रचती हैं। यह दोनों धाराएँ दर्शन में चार्वाक दर्शन के पास हैं। आधुनिक अर्थशास्त्र का मूल ध्येय मात्र और मात्र भौतिक उत्पादन बढ़ाना और उसी के अनुरूप अमर्यादित उपभोग को बढ़ावा देना है। दंडनीति के द्वारा मनुष्य के आर्थिक व्यवहार का नियमन भी भौतिक कल्याण को बढ़ाना ही है।

आधुनिक अर्थशास्त्र में त्रयी विद्या के सर्वथा अभाव को नोबेल पुरस्कार विजेता और भारतीय अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन स्वीकार करते हैं। उनका मानना है कि हालाँकि अर्थशास्त्र के विकास के आरंभ में नीति के प्रति पूरी संवेदनशीलता थी, परंतु शनैः-शनैः यह संवेदनशीलता कम होती गई है। अन्य शब्दों में कहें तो अर्थशास्त्र के विकास में आन्वीक्षिकी, लोकायतिक और दंडनीति हावी होती चली गई। सेन आधुनिक अर्थशास्त्र के मूल्य निरपेक्ष स्वरूप को शास्त्र का 'एन्जनीयरिंग एप्रोच' कहते हैं। इस अभिगम के बढ़ने से 'एथिकल एप्रोच' यानी नीतिमत्त अभिगम कम होता गया है। उनका मानना है की नीतिमत्त अभिगम से बढ़ती हुई दूरी के कारण आधुनिक अर्थशास्त्र गरीब होता गया है और यह स्थिति दयनीय है। ऐसे अर्थशास्त्र के पास कई गंभीर मानवीय समस्याओं का हल नहीं है।¹⁸

उपरोक्त चर्चा से इतना स्पष्ट हुआ जाता है कि जिस अर्थशास्त्र में नीतिमत्ता तक की चर्चा का लगभग अभाव है, उसमें अहिंसा के मूल्य की चर्चा नहीं हो सकती। अहिंसा और आधुनिक अर्थशास्त्र का दूर का संबंध भी नहीं है। यह तथ्य जितना विचार योग्य है उससे कहीं अधिक चिन्ता का विषय यह है कि आधुनिक अर्थशास्त्र के मुताबिक निर्मित हो रही अर्थव्यवस्था छद्म और संरचनात्मक या व्यवस्थाजन्य हिंसा को जन्म देकर उसे बढ़ावा देती है। इस प्रकार की हिंसा की विभावना का परिचय कराने का श्रेय विख्यात समाज विज्ञानी और शांति स्थापना के लिए कार्यरत विद्वान कर्मशील योहान गालुंग को जाता है।¹⁹ व्यवस्थाजन्य हिंसा मात्र आर्थिक ढाँचों के कारण ही होती है ऐसा नहीं है। यह सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के कारण भी होती है। परंतु आर्थिक व्यवस्थाओं के कारण व्यक्तिगत और सामूहिक हिंसा को बढ़ावा मिल सकता है।

वर्तमान समय के एक उदाहरण से समाज के इस लक्षण को स्पष्ट करें। समग्र विश्व में 1990 के बाद आर्थिक नीतियों में क्रांतिकारी परिवर्तन हो गए। उस वर्ष संयुक्त राष्ट्र सोवियत संघ में साम्यवाद का पतन हो गया। आर्थिक व्यवहारों में राज्य के अंकुश की सत्ता का दौर समाप्त हो गया। बाजार का अर्थशास्त्र हावी हो गया। कौटिल्य अर्थदर्शन के सन्दर्भ में अर्थघटन करें तो, कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित साम्यवाद लोकायतिक (चार्वाक) यानी भौतिक सुख को ही सर्वोपरी मानकर राज्य, उसका स्थापन और संचालन, दंडनीति द्वारा ही करता है। इस विचारधारा का श्रेष्ठ प्रतिरूप सोवियत संघ था। इसके विपरीत लोकायतिक दर्शन में ही विश्वास रखने

वाला मानव समूह और समाज का श्रेष्ठ प्रतिरूप अमरीका है। इस लोकायतिक या चार्वाक दर्शन का निभाव यह समाज आन्वीक्षिकी पर आधार रखकर करता है। विद्वता और बुद्धिवादिता के अधीन होने से वह वैज्ञानिक और मूल्य निरपेक्ष हो जाने का दावा करता है। वास्तविकता इससे भिन्न है। इसके दो कारण हैं। एक कारण तो जो अभी बताया, वह है। कोई भी आर्थिक व्यवहार मूल्य निरपेक्ष नहीं होता। शास्त्र उसे ऐसा मानता है तब वह उसकी अवधारणा है, सच्चाई नहीं।

मुक्त बाजार का पूर्ण स्पर्धात्मक अर्थशास्त्र आर्थिक मानव की कल्पना तो करता है पर उसकी अभिरुचि और माँग को पूर्वनिश्चित मानता है। यह एक और काल्पनिक सूत्रीकरण है कि इस पूर्वनिश्चित अभिरुचि के साथ पूर्ण स्पर्धा के बाजार में आने वाला आर्थिक मानव उत्पादक और उपभोक्ता के रूप में पूरे बाजार को प्रभावित नहीं कर सकता और इस तरह माँग और आपूर्ति ही कीमतें तय करके उत्पादन और उपभोग के बाजार की समतुल्यता प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रक्रिया में संसाधनों का आबंटन और उपभोग, मूल्य का वितरण भी कार्यक्षम और न्यायी हो जाता है। इस सारी प्रक्रिया में राज्य की दंडनीति द्वारा नियमन करने की अत्यंत सीमित भूमिका है।

वास्तविक संसार में अभिरुचि और माँग दोनों ही पूर्वनिश्चित नहीं होते हैं। यहाँ संक्षिप्त में इतना दर्शाना बहुत होगा कि उत्पादक माँग कृत्रिम रूप से उत्पन्न करते हैं और समाज के हर क्षेत्र के और विशेषकर भौतिकवादी और शरीर मात्र पर ध्यान केन्द्रित करने वाले चार्वाक दर्शन के जनप्रिय प्रतिरूप (रोल मॉडेल) आम आदमी की अभिरुचियों को तीव्रता और घनिष्टता से प्रभावित करते हैं।²⁰ इतना निश्चित है कि मनुष्य का अर्थ-व्यवहार शरीरधर्मी है और इसलिए उसमें भौतिकता का पुट हमेशा अधिक ही रहेगा। तार्किक होने मात्र से मनुष्य नैतिक भी हो जाएगा यह कल्पना ही अनुचित है। बाजार की व्यवस्था में प्रवेश मात्र से मानव आर्थिक मानव नहीं बन जाता। वह तो उसका एक स्वरूप है और अत्यन्त मर्यादित स्वरूप है। भौतिक सुखों को अधिक-से-अधिक प्राप्त कर लेने की लालसा जागती ही है और यह लालायित मानव धनबल, बाहुबल या बुद्धिबल से, दंडनीति से व्यवहार नियमन करने वाले राज्यतन्त्र को भ्रष्ट करने की कोशिश अवश्य करता है।²¹ ऐसा होने पर मुक्त बाजार की सारी अवधारणाएँ ढेर हो जाती हैं और समाज का एक विशेष प्रभावशाली वर्ग विशेष लाभ और विशेष तुष्टिगुण प्राप्त करने में सफल हो जाता है। इस प्रक्रिया में एक प्रतिक्रिया भी शामिल होती है। जब उद्योग या आर्थिक व्यवहारों के कर्णधारों और राज्यशासन के कर्णधारों के बीच लोभ-लाभ के आधार पर सँठगाँठ हो जाती है तब जनतन्त्र में हरेक व्यक्ति को समान अवसर प्राप्य है यह अवधारणा कपूर की भांति उड़ जाती है। इस खेल में गरीब वर्ग ही मारा जाता है। यह गरीबी धनबल, बाहुबल या बुद्धिबल किसी भी या एक से अधिक क्षेत्रों की हो सकती है। अगर इन्हें खेल में

हारा हुआ समझ लें तो यह हारा हुआ वर्ग और उसकी अनेक इकाइयाँ अपने मन में उद्वेग और द्वेष को जन्म देकर बढ़ावा देती हैं। इसे गाल्लुंग और अन्य विद्वानों ने छिपी हिंसा का रूप कहा है।

एक ठोस उदाहरण लें। किसी भी देश में जंगलों के नीचे खनिज पदार्थ प्रचूरता से भरे हैं। इन जंगलों में सदियों से आदिवासी या सापेक्ष तौर पर विपन्न लोग बसते आए हैं। वे जंगलों के उत्पाद और थोड़ी खेती के आधार पर अपनी आजीविका चलाते हैं। माना जाता है के वे लालची नहीं होते थे। अतः शायद बौद्ध उपदेश के अनुसार वे *सम्मा आजीव* में विश्वास रखकर चलने वाले लोग थे। आधुनिक परिस्थिति ऐसी है कि इन खनिजों की मदद से एक बड़ी भौतिक दुनिया का निर्माण संभव हो गया है। याद रहे कि यह संभावना विज्ञान और निरंतर बढ़ते टेक्नॉलोजी और उससे जन्मे औद्योगिक क्रांति के कारण है। अब इस नई व्यवस्था में राज्य जो इन खनिजों का मालिक है उसे उद्योग साहसिकों को भेंट करना चाहता है। बीच में ये गरीब लोगों के समूह आ जाते हैं और वे राज्य द्वारा दी जानेवाली क्षतिपूर्ति से संतुष्ट नहीं हैं। तो राज्य उन्हें बलपूर्वक खदेड़ता है। व्यापारी और उद्योगपति भी छद्म हिंसा का सहारा लेते हैं। मानसिक तनाव और दबाव दोनों पक्षों में बढ़ता है जो हिंसा का मानस बनाता है। यह हिंसा राख में दबे अंगार की तरह होता है जो हवा लगने पर सुलग उठता है। ऐसी अनेकों परिस्थितियाँ आधुनिक अर्थशास्त्र के अर्थघटनों और उस पर आधारित राज्य की आर्थिक नीतियों और आर्थिक व्यवहारों के व्यवहारों से खड़ी हो जाती हैं और हो रही हैं। यह संरचनात्मक हिंसा का सचोट उदाहरण है। चिंता और चिंतन का मुद्दा यह है कि इस प्रकार की छद्म और संरचनात्मक हिंसा अक्सर प्रकट हिंसा में परिवर्तित हो जाती है।

आधुनिक अर्थशास्त्र और अहिंसा की चर्चा को यहाँ समाप्त करना होगा। बाजारनिष्ठ और पूंजीवादी अर्थशास्त्री और उनके समर्थक विचारक इस खेल में राज्य की कमजोरियाँ ही ढूँढ़ेंगे और यह विमर्श जारी रखेंगे कि बाजार के परिवर्तनों को अभी पूर्ण स्वतन्त्रता देना शेष है और जब तक ऐसा नहीं होगा राज्य द्वारा ऐसी अकल्याणकारी आर्थिक नीतियाँ बनती रहेंगी। परंतु आर्थिक मानव खण्ड दर्शन का स्वरूप है और आर्थिक व्यवहारों पर पूर्ण मानव व्यवहार प्रभाव डालता है इस बात को अभी मुख्यधारा के और नीति-निर्धारण में दखल रखने वाले 'आधुनिक और वैज्ञानिक' अर्थशास्त्री स्वीकार नहीं करते। अमर्त्य सेन जैसे कुछ आधुनिक अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र के सिद्धांतों में नीतिमत्ता के समावेश का विमर्श रखते हैं। उन्हें 'इंजीनीयरिंग एप्रोच' के अति वर्चस्व और 'एथिकल एप्रोच' के अतिशीघ्र पतन के प्रति चिंता है।²² परंतु वे भी गाँधी की तरह खुलकर बिना नीति के अर्थ व्यवहार हो ही नहीं सकता और ऐसा अर्थशास्त्र अहिंसक समाज का निर्माण कर ही नहीं पाएगा इस पर सहमत होते नहीं

दिखाई देते। अब हम अगले और अन्तिम विभाग में अहिंसा और अर्थशास्त्र के गाँधी विमर्श को रखने का प्रयत्न करेंगे।

3

गाँधी विचार-विमर्श का एक रसप्रद लक्षण है। मानवता को सर्वोदय का ध्येय सुझाने वाले गाँधी तमाम प्रकार के व्यवहारों के केन्द्र में तो व्यक्ति को ही रखते हैं। यह लक्षण रसप्रद इसलिए है कि सामान्य मान्यता के अनुसार गाँधी समाजवादियों के निकट माने जाते हैं, पर उस विचारधारा में अभिरुचि और पसन्द सामूहिक या सामाजिक स्तर (सोशल चॉइस) की है और इस अभिरुचि निर्धारण और उससे उत्पन्न कार्यान्तरण की जवाबदारी राज्य की बन जाती है। गाँधी मुक्त बाजार के आधुनिक अर्थशास्त्रियों की मानिंद राज्य को ये कार्य नहीं ही सौंपना चाहते हैं। गाँधी अर्थ विचार के विद्वान विचारक अजीत दासगुप्ता कहते हैं कि गाँधी की गहरी व्यक्तिनिष्ठा के कारण ही वे हरेक प्रकार के व्यवहार के केन्द्र में व्यक्ति को रखते हैं।²³ सामाजिक या सामूहिक अभिरुचि निर्धारण और कार्यान्वयन में राज्य अथवा शासक की सरमुख्यारी निहित होने के कारण ही गाँधी सामूहिक या समाज स्तरीय अभिरुचि या पसन्द निर्धारण को मान्य नहीं रख सकते। और इस तरह वे मूल सिद्धांत के दायरे में समाजवादियों की धारणा के विपरीत आधुनिक अर्थशास्त्र के मूल सिद्धांतों से सहमति रखते हैं। पर इसके आगे गाँधी आधुनिक अर्थशास्त्र की विचारधारा से अलग हो जाते हैं।

गाँधी समाजवादी विचारधारा से विपरीत क्यों हैं इसे और थोड़ी गहराई में जाकर समझ लें। गाँधी हरेक व्यक्ति को पूरी तरह कुसुमित हुआ देखना चाहते हैं और समाज का हरेक मानव कुसुम आत्मप्रफुल्लता की सुगंध फैलाए ऐसी कल्पना करते हैं। हरेक मानव अपने-आप में निहित समस्त शक्तियों को पूर्ण विकसित कर पाने का अवसर प्राप्त करे तब अपने-आप सर्वोदय यानी समूह और समाज का कल्याण होगा ऐसा उनका अनुमान है। सामाजिक या सामूहिक पसन्द के ढाँचे में कार्यान्वयन की शैली सरमुख्यारी वाली ही होगी, यह तय होने के कारण ऐसी किसी भी अवस्था का सामना करने के लिए व्यक्ति को सत्याग्रह का आश्रय लेना चाहिए ऐसी गाँधी की दृढ़ मान्यता है।

गाँधी कौन-सी मोड़ से इस मुक्त बाजार के सिद्धांत मार्ग से रास्ता बदल लेते हैं? मुक्त बाजार के सिद्धांत के व्यक्ति-केन्द्री मार्ग में गाँधी स्वयं ही एक ऐसा मोड़ लेते हैं जहाँ मानव को अपने अखण्ड स्वरूप में व्यवहार को नियमित करना है। यहाँ से आधुनिक अर्थशास्त्र के मार्ग से गाँधी अलग हो जाते हैं क्योंकि उन्हें 'आर्थिक मानव' का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नहीं है। 'आर्थिक मानव' खण्ड दर्शन का प्रतिनिधि है। वह मूल्य निरपेक्ष होने का दावा करते हुए भी छद्म रूप से ऐसे मूल्यों

का आह्वान करता है जो मानव समाज के विनाश का सामान जुटा सकते हैं। आधुनिक अर्थशास्त्र इस समस्या से परिचित तो है पर उसे वह अपने शास्त्र की न तो देन मानता है और न ही उससे सीधे द्वन्द्व में उतरना चाहता है। गाँधी की भूमिका यहाँ स्फटिक की तरह स्वच्छ है। वे किसी ऐसे अर्थशास्त्र को मान्यता देने को तैयार नहीं होते जिसमें नीतिमत्ता के सिद्धांत संकलित न होते हों। इसका कारण यह था कि उन्होंने अपने समय में पश्चिमी समाज के जिस आर्थिक विकास को देखा वह उन्हें मानव के संपूर्ण विकास के साथ सुसंगत होता हुआ नहीं लगा। अपनी इंग्लैण्ड की उच्च शिक्षा के समय से उनके मन में एक प्रकार का भीषण मंथन चल रहा था और तेजी से आर्थिक प्रगति करते हुए पश्चिमी समाज को देखकर निरंतर कुछ खटक रहा था। उनका ये तीव्र मनोमंथन 1909 के अरसे में असह्य बन गया और उन्होंने अपनी यह कश्मकश 'हिन्द स्वराज' नामक पुस्तक में प्रकट की और अपने परिप्रेक्ष्य को भी दुनियाँ के सामने रखा। पश्चिमी समाज को अपनी आधुनिक सभ्यता पर बड़ा अहंकार था। इस सभ्यता की तीखी आलोचना करते हुए गाँधीजी लिखते हैं।

'पहले तो हम यह सोचें कि सभ्यता किस हालत का नाम है। इस सभ्यता की सही पहचान तो यह है कि लोग बाहरी (दुनिया) की खोजों में और शरीर के सुख में धन्यता-सार्थकता और पुरुषार्थ मानते हैं। इसकी कुछ मिसालें लें। सौ साल पहले यूरोप के लोग जैसे घरों में रहते थे उनसे ज्यादा अच्छे घरों में आज वे रहते हैं। यह सभ्यता की निशानी मानी जाती है। इसमें शरीर सुख की बात है। इसके पहले लोग चमड़े के कपड़े पहनते थे और भालों का इस्तेमाल करते थे। अब वे लंबे पतलून पहनते हैं और शरीर को सजाने के लिए तरह-तरह के कपड़े बनवाते हैं; और भाले के बदले एक के बाद एक पाँच गोलियाँ छोड़ सके ऐसी चक्करवाली बंदूक इस्तेमाल करते हैं। यह सभ्यता की निशानी है।...यह सभ्यता जैसे-जैसे आगे बढ़ती जाती है वैसे-वैसे यह सोचा जाता है कि लोग हवाई जहाज से सफर करेंगे और थोड़े ही घंटों में दुनिया के किसी भी भाग में जा पहुंचेंगे। लोगों को हाथ-पैर हिलाने की जरूरत नहीं रहेगी। एक बटन दबाया कि आदमी के सामने पहनने की पोशाक हाजिर हो जाएगी, दूसरा बटन दबाया कि उसे अखबार मिल जाएँगे, तीसरा दबाया कि उसके लिए गाड़ी तैयार हो जाएगी; हर हमेशा नए भोजन मिलेंगे, हाथ-पैर का काम ही नहीं पड़ेगा, सारा काम कल से ही किया जाएगा। पहले जब लोग लड़ना चाहते थे तो एक-दूसरे का शरीरबल आजमाते थे। आज तो तोप के एक गोले से हजारों जानें ली जा सकती हैं। यह सभ्यता की निशानी है'²⁴

बीसवीं शती के आरंभ तक पश्चिमी सभ्यता के जो लक्षण गाँधीजी को दिखे और उन्होंने जो समझा उसका बयान उन्होंने 'हिन्द स्वराज' में किया। उनका मुद्दा यह था कि पश्चिमी संस्कृति के मानव का मूल लक्ष्य शरीर सुख और भौतिक सम्पन्नता हासिल करना है। हमने पहले यह दर्शाया है कि प्रोटेस्टेंट धर्म का आशय सामान्य

मेहनतकश आदमी को परलोक के सुख को हासिल करने के लिए संस्थीकृत धर्म और उसके कर्मकांडों और अंधविश्वासों से बचाकर नेकी से पसीना बहाकर कर शरीरधर्म को निभाने का मूल्य स्थापित करना था। पर दुर्भाग्य से उसी पश्चिम समाज में ईसाई धर्म में और दुनिया-भर में जिसे जघन्य पाप माने जाते हैं, वैसे लोभ, स्वार्थ, असंतोष और अंहकार वे इस नए अर्थशास्त्र के कारण समाज में स्वीकृत एवम् स्थापित हो गए।²⁵ एक तरह से कहें तो पश्चिमी समाज ईमान-धर्म से च्युत हो गया। गाँधी अपनी आलोचना में आगे स्पष्ट लिखते हैं, 'सभ्यता के हिमायती साफ कहते हैं कि उनका काम लोगों को धर्म सिखाने का नहीं है। धर्म तो ढोंग है, ऐसा कुछ लोग मानते हैं।...शरीर का सुख कैसे मिले यही आज की सभ्यता ढूंढती है और यही देने की कोशिश करती है।'²⁵

गाँधीजी एक अर्थ में भविष्यद्रष्टा भी कहे जा सकते हैं। 'हिन्द स्वराज' लिखते समय तक उन्हें ये दिख रहा था कि इस भौतिक संपन्नता को हासिल करने की कोशिशों में व्यक्ति और देश हिंसा में लिप्त हो जाएँगे और मानवता खतरे में पड़ जायगी। संपत्ति कमानेवाला कमाने के बाद प्यार से सभी में बाँट देगा ऐसा तो नहीं फिर वह चाहे व्यक्ति हो या देश। तब छीना-झपटी शुरू होगी, मार-काट होगी अथवा पैंतरे रचे जाएँगे, देशों के बीच युद्ध होगा, और यह सब तो होता आया है। साधन और साध्य के बीच विसंगति खड़ी होगी। 'बोया पेड़ बबूल का आम कहाँ से पाय'। 'हिन्द स्वराज' में गाँधीजी ने लिखा कि ऐसे समाज पशुबल से चालित होंगे। आज हम देख रहे हैं धनबल, बाहुबल और बुद्धिबल भी पशुबल से ही चालित हो रहे हैं। इस बल के अधीन होकर डर द्वारा और हिंसा के द्वारा व्यक्ति और समूहों को अंकुश में रखा जाता है। गाँधीजी ने कहा कि यह सभ्यता नहीं हो सकती। उनके लिए 'सभ्यता वह आचरण है, जिससे आदमी अपना फर्ज अदा करता है। फर्ज अदा करने के मानी है नीति का पालन करना। नीति के पालन का मतलब है अपने मन और इन्द्रियों को बस में रखना। ऐसा करते हुए हम अपने को (अपनी असलियत को) पहचानते हैं। यही सभ्यता है। इससे जो उलटा है वह बिगाड़ करनेवाला है।'²⁷

इस सभ्यता को हासिल करने का मंत्र क्या है। गाँधीजी यह दर्शाते हैं कि भारत देश ने सदियों से इसी रास्ते को अपनाकर पूरी दुनिया को राह दिखाई है अहिंसा-समाज का निर्माण हो सकता है। उसके किए आत्मबल या प्रेमबल को सबल बनाना होगा। 'हिन्द स्वराज' में वह इस आत्मबल या प्रेमबल को समझाने के लिए तुलसीदास का यह दोहा उद्धरित करते हैं।

दया धरम का मूल है, देहमूल अभिमान।

तुलसी दया न छाँड़िए, जब लगी घट में प्रान।।

इस बुनियादी मूल्य को वरा हुआ मानव भौतिक संपदा हासिल करने के लिए छीना-झपटी और मार-काट नहीं करेगा। अगर उसे धनी से धन लेकर रंक को देना

भी है तो उसका साधन सत्याग्रह का ही होगा इसमें गाँधीजी को कोई सन्देह नहीं है। इस तरह भौतिक संपदा उत्पन्न करने और उसका वितरण करने में चालकबल प्रेमबल अथवा आत्मबल होगा तो सारे अर्थव्यवहारों में भी नीतिमत्ता ही आएगी। इस प्रक्रिया में मानवता की प्रगति का ध्येय आर्थिक विकास नहीं होगा क्योंकि सही विकास मात्र आर्थिक विकास नहीं है। गाँधीजी ने यह प्रश्न दिसंबर 1916 में इलाहाबाद के मुयिर सेंट्रल कॉलेज में अर्थशास्त्रियों के सम्मेलन में खड़ा किया था और कहा था कि उनके विचार में मानवता का सही विकास नैतिक विकास है।

'हिन्द स्वराज' में गाँधीजी ने अपना समाज-दर्शन रख देने के बाद कई जगहों पर अपने आर्थिक विचार रखे और हर जगह पर आर्थिक व्यवहारों में अहिंसा के मूल्य को प्रस्थापित करते हुए उन्होंने नीतिमत्ता की बात ही रखी है। गाँधीजी के उन सभी विचारों का संकलन करें तो अहिंसक अर्थव्यवस्था का एक ढाँचा खड़ा हो जाता है। इस पर थोड़ा दृष्टिपात कर लें। गाँधीजी के विचारों के संकलन किए हुए पुस्तकों में से एक पुस्तक 'मेरे सपनों का भारत' भी है।²⁸ उसमें दो अध्याय 'अहिंसक अर्थव्यवस्था' और 'आर्थिक समानता' अहिंसा के मूल्य पर आधारित अर्थव्यवस्था ही मानव के सही विकास की दिशा होनी चाहिए, ऐसा प्रतिपादित करते हैं।

अब गाँधी विचार को इस लेख के मूल विचार तंतु के साथ जोड़ दें। अहिंसा और अर्थशास्त्र के संबंधों को ढूँढने की शुरुआत धर्म से करते हुए हम कौटिल्य के अर्थशास्त्र में पहुंचे थे। वहाँ हमने पाया कि हिन्दू शास्त्रों में अर्थशास्त्र को अलग पहचान मिली है और शरीरधर्म निभाने के लिए उसका महत्त्व भी ऊँचा ही आंका गया है। हमने यह भी पाया कि अर्थशास्त्र का संकलित स्वरूप त्रयी (वेद विद्या) वार्ता, आन्वीक्षिकी और दंडनीति चारों ही को योग्य स्थान प्रदान करता है। हमने यह भी पाया सिद्ध आचार्यों ने आर्थिक व्यवहारों के लिए चारों को आवश्यक न मानकर एक या दो विधाओं को भी महत्त्व दिया है। जब ऐसा हुआ है तब ऐसे खण्ड विधा पर आधारित आर्थिक व्यवहारों के ढाँचे पर खड़ा समाज भी मर्यादायुक्त ही रहा है। जितने आचार्यों ने आर्थिक व्यवहारों के लिए वेद विद्या को आवश्यक नहीं माना, वैसा समाज अहिंसक समाज नहीं बना। भौतिक सुख चाहे अमर्यादित मात्रा में आया पर यह चिरंजीवी नहीं रहा। हिंसा बढ़ी और समाज नष्ट हुए। कौटिल्य स्वयं इन सभी विधाओं की चर्चा करने के पश्चात यह स्वीकार तो करते हैं कि समग्र दर्शन का अर्थशास्त्र तो चारों विधाओं की संयुक्त समझ से ही बनता है, परंतु, आर्थिक व्यवहारों के शास्त्र विशेष के लिए, दंडनीति (चाहे वह मृदु दंडनीति ही क्यों न हो) को ही आवश्यक मानते हैं। इस तरह सभी विद्वान भी शरीर धर्म निभाने की आड़ में भौतिक दुनिया के दास बन जाते हैं। गाँधीजी यहाँ अपनी अलग जगह बनाते हैं।

गाँधीजी शरीरधर्म की अनिवार्यता को अच्छी तरह से समझते हैं। इस तरह वे लोकायतिक या चार्वाक दर्शन से परिचित हैं और लौकिक धर्म की अनिवार्यता भी

स्वीकार करते हैं। वे सिर्फ मोक्षमार्गी नहीं हैं। व्यक्ति की गति उर्ध्व दिशा की है इतना तो वे मानते हैं पर व्यक्ति का यह प्रयास मात्र स्वार्थी हो और वह दुनिया की बिल्कुल परवाह न करे ऐसा गाँधीजी का विश्वास नहीं है। अगर दुनिया में गरीबी, भुखमरी और असमानता रहे और व्यक्ति अपनी आध्यात्मिकता सिद्ध करने में लगा रहे तो यह गाँधीजी को स्वीकृत नहीं होगा। अजीत दासगुप्ता बहुत ही स्पष्ट तौर पर कहते हैं कि गाँधी नैतिकता के स्तर पर *कॉन्सिक्वेन्शियलिस्ट* हैं यानी लौकिक स्तर पर परिणामलक्षी हैं।²⁹ उनके लिए नैतिकता मात्र नैतिकता की अच्छाई या व्यक्तिगत आध्यात्मिक उन्नति-भर के लिए नहीं है, व्यक्ति की नैतिकता का परिणाम समष्टि के कल्याण में योगदान करने वाला होना चाहिए।

समाज के अर्थव्यवहारों के सन्दर्भ में सही नीतिमत्ता के बारे में गाँधीजी ने कहा कि जो सच्चा नीतिशास्त्र है, वह अच्छा अर्थशास्त्र भी होना चाहिए। वैसे ही सच्चा अर्थशास्त्र ऊँचे-से-ऊँचे नैतिक मापदंडों का विरोधी नहीं हो सकता है। जो अर्थशास्त्र धनपूजा का उपदेश देता रहता है और निर्बल लोगों की कीमत पर सबलों को धनसंचय करने देता है वह गलत शास्त्र है। वह घातक है। सच्चा अर्थशास्त्र सामाजिक न्याय के लिए होना चाहिए। वह अंतिम आदमी सहित सर्व का भला करने वाला शास्त्र होना चाहिए। सच्ची सभ्यता के लिए यह अनिवार्य है। इस दिशा में उन्होंने अस्तेय और अपरिग्रह के मूल्यों को भी सराहा और अर्थशास्त्र में अहिंसा का मूल्य लाने के लिए अस्तेय और अपरिग्रह दोनों को अति आवश्यक माना। जो नैतिक तौर पर मेरा नहीं है और मेरे पास आ गया है उसे मैं स्वीकार कर लूँ तो वह चोरी होगी और उसका उपयोग मैं लंबे समय तक करने के लिए बचा लूँ तो वह परिग्रह होगा। ऐसा करने से भौतिक प्रगति तो हो सकती है अहिंसक समाज नहीं बनेगा और सच्चा अर्थशास्त्र भी नहीं बनेगा।

गाँधीजी ने जिन रचनात्मक कार्यों को सुझाया उनमें से एक आर्थिक समानता के लिए काम करना है। आधुनिक अर्थशास्त्र ने इसे *इक्विटी* और *इक्वालिटी* यानी समता और समानता के चक्कर में डाल दिया और इस तरह यह मान लिया कि समानता तो किसी भी समाज में हासिल हो ही नहीं सकती। अतः राज्य की मदद से समता लाने के हरसंभव प्रयास किए जाने चाहिए। इस तर्क को लगभग सभी की मान्यता मिल चुकी है। गाँधी इससे सहमत नहीं थे। उनके विचार में पूंजी और श्रम के बीच के झगड़े को हमेशा के लिए मिटाना ही आर्थिक समानता हासिल करने का अंतिम ध्येय है। जब तक कुछ हजार धनी हों और करोड़ों विपन्न हों तब तक अहिंसक प्रशासन सम्भव नहीं है और अगर प्रशासन हिंसक है (दंडनीति प्राधान्य है), तो अर्थव्यवस्था अहिंसक नहीं बन सकती। अतः समाज का इच्छनीय दर्शन क्या है? यह तय करना आवश्यक है। अहिंसक अर्थव्यवस्था और उसके अनुरूप शास्त्र तभी

बन पाएगा जब अनेक क्षेत्रों में आर्थिक प्रवृत्तियों के केन्द्रीकरण की बजाय विकेन्द्रीकरण और विस्तारीकरण हो।

इस तरह गाँधी विचार में अहिंसा के मूल्य पर आधारित अर्थशास्त्र का ध्येय आर्थिक समानता हासिल करना है। गाँधीजी विचार देकर चुप नहीं रहते। उस दिशा में जाने का तरीका भी बताते हैं। पहला कदम यह है कि जिस व्यक्ति ने इस आदर्श को अपनाया हो वह अपने जीवन में आवश्यक परिवर्तन लाए। देश के गरीबों से अपनी आर्थिक स्थिति की तुलना कर अपनी जरूरतें कम करे। अपनी धन कमाने की शक्ति को अंकुश में लाए। जो धन कमाना है वह ईमानदारी से कमाए। सट्टेबाज हो तो उसे तुरंत बंद करे। जीवन को संयमी बनाए। अगर ऐसा करने में वह ठीक-ठीक सिद्ध हो जाए तो अपने पड़ोसी और हितेच्छुओं को इस मार्ग पर लाने का यत्न शुरू करे।

आर्थिक समानता के मूल में *ट्रस्टीशिप* की भावना है। उत्पादन और वितरण दोनों ही में इसी भावना से कार्यरत रहना होगा। व्यवस्था तो बाजार की ही रहेगी पर इस बाजार में प्रवेश करने वाला व्यक्ति उपभोक्ता और उपभोगी के रूप में क्रमशः ट्रस्टी और संयमी की भूमिका से प्रवेश करेगा तो अर्थव्यवस्था का ढाँचा ही ऐसा बनेगा कि वह नीतिमत्त और अहिंसक होगा।

अब तक यह स्पष्ट हो गया होगा कि अहिंसा और अर्थशास्त्र की तात्त्विक चर्चा के स्तर पर गाँधी इस देश की मूल संस्कृति के आधार वेद विद्या के मूल्यों का आह्वान करते हैं। उनके मन में और विचार में सर्व कल्याण की भावना है। सर्व का अर्थ यहाँ व्यक्ति, समष्टि और प्रकृति है। यह तो वेदज्ञान से मिलता है। गाँधी, महावीर और बुद्ध के धर्मोपदेश में निहित नीतिवान आर्थिक व्यवहार की बात तो रखते ही हैं, पर उससे आगे जाकर उसके व्यावहारिक पक्ष को भी अच्छी तरह उजागर करते हैं। मानव समाज ने सर्व के कल्याण के लिए भौतिक व्यवहारों के लिए जो अर्थशास्त्र विकसाया उसमें व्यक्ति स्वातंत्र्य के आधार पर मुक्त बाजार की कल्पना को बढ़ावा देकर पूंजीवादी व्यवस्था खड़ी की। जब उससे सर्व कल्याण नहीं होता नजर आया तो मार्क्स के विचारों के आधार पर राज्य को कमान सौंपी और साम्यवाद पनपा। परंतु उससे भी सर्व कल्याण का ध्येय हासिल नहीं हुआ तो फिर से एक बार मुक्त बाजार और पूंजीवाद की ओर विकास लोलक को पहुंचा दिया है। पर यह तो पहले ही एक बार मात खा चुका है। मूल समस्या का हल तन्त्र में नहीं व्यक्ति के मूल्यों और उस पर आधारित व्यवहार पर है। केन्द्र में तो व्यक्ति ही है और वह स्वतन्त्र भी है, पर स्वानुशासन से मर्यादा में रहना जानता है। गाँधी इस दिशा में मार्गदर्शन देते हैं पर अहिंसा के इस अर्थशास्त्र को देख पाने की दृष्टि बहुमति समाज में अभी नहीं आने पाई है ऐसा प्रतीत होता है।

संदर्भ

1. इन मुद्दों पर समर्थ चर्चा के लिये देखें य पंडित इश्वरचन्द्र शर्मा (1957), *अर्थ धर्म मीमांसा [पूँजीवाद और समाजवाद की समालोचना]*; आर्य समाज कुचिपुडि, तेनाली आन्ध्र प्रदेश।
2. वही, पृष्ठ संख्या 3।
3. पश्चिमी समाज में यह विषय पहले पोलिटिकल इकोनॉमी के नाम से जाना जाता था। यह शास्त्र ईसा के समय के बाद ही पनपा है और इसका सबसे मुखरित स्वरूप इकोनॉमिक्स औपचारिक तौर पर औद्योगिक क्रान्ति के साथ-साथ प्रकट हुआ।
4. यह उद्धरण कौटिल्य के अर्थशास्त्र के गुजराती भाषांतर के सहित की आवृत्ति से लिया गया है। देखें शास्त्री श्री वासुदेव महाशंकर जोशी, 1982 *कौटिल्यनुं अर्थशास्त्र*, [मूळ साथे भाषान्तर, चाणक्य नीतिसुत्र सहित] सस्तुं साहित्यवर्धक कार्यालय, अहमदाबाद अधिकरण 1. अध्याय 1।
5. वही, अधिकरण 9, अध्याय 4।
6. पंडित शर्मा, पृ. 5
7. *कौटिल्यनुं अर्थशास्त्र*, अध्याय 2 श्लोक 5.7।
8. वही, अध्याय 2 श्लोक 12
9. पंडित शर्मा, पृ. 9
10. 2008 में जैन विश्व भारती युनिवर्सिटी द्वारा प्रकाशित हुए एक पुस्तक में सापेक्ष अर्थशास्त्र का ख्याल विकसित किया गया है। इस पुस्तक में आचार्य महाप्रज्ञ ने एक लेख में महावीर स्वामी के अर्थ-विचार के मूल तत्व को रखा है। विस्तृत जानकारी के लिये देखें, आचार्य महाप्रज्ञ, 2008; “इकोनोमिक्स ऑफ नॉन-वायलेंस”, बी. आर. दुगड (मुख्य संपादक), नॉन वायलेन्स, रिलेटिव इकोनॉमिक्स एंड अ न्यू सोशियल ऑर्डर; जैन विश्व भारती युनिवर्सिटी, लाडनुं. पृष्ठ 3-8
11. देखें, गांधी एस. एल. 2008; “इकोनॉमिक्स ऑफ नॉन वायलेंस एंड दि विजन ऑफ ए ससटेनेबल वर्ल्ड”; बी. आर. दुगड (मुख्य संपादक), नॉन वायलेन्स, रिलेटिव इकोनॉमिक्स, एंड अ न्यू सोशियल ऑर्डर। जैन विश्व भारती युनिवर्सिटी, लाडनुं; पृष्ठ 9-22।
12. इन अणुव्रतों के अर्थ क्रमशः यह हैं, अनावश्यक हिंसा न करना, घरों और गांव-बस्ती को नहीं उजाड़ना, स्वयं न दी हुई वस्तुओं को छीन न लेना, व्यभिचार न करना और अमर्याद सम्पत्ति प्राप्त न करना।
13. ई. एफ. शुमाकर का लेख ‘बुद्धिस्ट इकोनॉमिस्ट’ मूलरूप से Resurgence January/February, 1968 (Vol. I, No. 11) में छपा था जिसे BUDDHIST ECONOMICS शीर्षक से Volume XXII, No. 33 MANAS Reprint श्रृंखला में August 13, 1969 के अंक में पुनःमुद्रित किया गया। यह जानकारी <http://www.manasjournal.org/>

- pdf_library/VolumeXXII_1969/XXII.33.pdf वेबसाईट से अगस्त 12, 2011 के दिन ली गयी।
14. इस विषय पर विशद चर्चा के लिये देखें। संघरक्षिता, 2007; *द बुद्धास नोबल एड्ट्फोल्ड पाथ*, http://www.sangharakshita.org/_books/Noble_Eightfold_Path.pdf अगस्त 13, 2011
 15. संकलित (2005); *कंपॅशनेट इकोनॉमी*, तिब्बत हाउस, नई दिल्ली।
 16. फ्रिट्जॉफ काप्रा, 1983; *द टर्निंग पॉइन्ट*, फ्लेमिंगो, हारपर कोलिन्स, लन्दन अध्याय 7।
 17. इस नामाभिधान का श्रेय जाने-माने समाज शास्त्री मैक्स वेबर को जाता है। उन्होंने इस विषय पर एक पुस्तक लिखी थी जिसका शीर्षक था, ‘प्रोटेस्टेन्ट एथिक्स एंड द स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म’।
 18. एक बहुत ही गम्भीर चर्चा के लिये देखें, अमर्त्य सेन, 2006 ऑन एथिक्स एंड इकोनॉमिक्स ऑक्सफोर्ड, इंडिया, न्यू डेवेली।
 19. इस विषय की ज्यादा विस्तृत चर्चा के लिये और उसके उदाहरण के लिये देखें आयंगार सुदर्शन, ‘ढांचागत हिंसा और गांधी विचार’, जैन भारती, जून 2008।
 20. पूंजीवादी और बाजार आधारित अर्थव्यवस्थाओं में विज्ञापन का भरपूर और समृद्ध संसार इसका उदाहरण है।
 21. यह बात ध्यान योग्य है कि भारत देश में ही पिछले बीस साल से मुक्त बाजार की नीतियों की वजह से भ्रष्टाचार इतना बढ़ गया है कि अण्णा हजारे इसे अंकुश में लाने के लिये राज्यशक्ति को प्रभावित करने के लिये उपवास पर बैठे और उनके साथ अच्छी मात्र में लोकशक्ति जुड़ी है।
 22. अमर्त्य सेन, 2003 पृष्ठ 7।
 23. इन मुद्दों पर विद्वतापूर्ण चर्चा के लिये कृपया देखें, अजीत के. दासगुप्ता, 1996; *गांधीस इकोनॉमिक थॉट*; रऊटलेड्ज, लंदन अध्याय 2।
 24. गांधीजी, 2002, *हिन्द स्वराज्य*; सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, पृष्ठ 34-35।
 25. कापरा, 1983 पृष्ठ 2001।
 26. गांधीजी 2002, पृष्ठ 36।
 27. ‘द कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी’, भाग 13, पृ. 317 प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली।
 28. यह संकलन जानेमाने गांधी विचारवाहक आर. के. प्रभु ने किया है। मूल अंग्रेजी में है जिसका शीर्षक ‘इंडिया ऑफ माय ड्रीम’ है। इसका अनुवाद हिन्दी और गुजराती में हुआ। इस लेख के उद्धरण गुजराती अनुवाद से लिये गये हैं अतः इसे पाठकगण हिन्दी अनुवाद का गद्य न समझें। गुजराती अनुवाद ‘भारा स्वप्ननुं भारत’ शीर्षक से नवनीवन प्रकाशन मंदिर से पहली बार 1963 में प्रकाशित हुआ। यह आवृत्ति 2009 में आठवीं बार पुनः मुद्रित हुई थी।
 29. अजीत दासगुप्ता 1996 पृष्ठ 8।

भास के नाटकों में प्रयोग कुड़ियाट्टम और प्रतिमानाटकम्

संगीता गुन्देचा*

भारतवर्ष के साहित्य प्रेमियों को 19वीं शताब्दी के अन्त तक भास का नाम अभिनवगुप्त, जयानक, जयदेव, राजशेखर, भोज, शारदातनय, सागरनन्दी, रामचन्द्र-गुणचन्द्र आदि के उद्धरणों तथा उल्लेखों से ही ज्ञात था। भास के नाटक कहीं उपलब्ध नहीं थे। केरल के महामहोपाध्याय टी. गणपति शास्त्री को यह श्रेय जाता है कि 1908-14 में वे भास के तेरह रूपकों को एक साथ प्रकाश में ले आये जिनका सदियों से संस्कृत अध्येताओं एवं रंगकर्मियों को केवल नाम ही ज्ञात था। गणपति शास्त्री को त्रावणकोर राजमहल के पुस्तकालय में 1909 ई. में 105 ताड़पत्रों पर प्राचीन मलयालम लिपि में लिखी तीन सौ वर्षों से भी अधिक पुरानी पाण्डुलिपियाँ मिली, जिनमें 'अभिषेकनाटकम्' तथा 'प्रतिमानाटकम्' को छोड़ कर भास के शेष ग्यारह रूपक थे। इसके बाद उन्हें 'अभिषेकनाटकम्' तथा 'प्रतिमानाटकम्' की भी पाण्डुलिपियाँ कैलाशपुरम् के ज्योतिषाचार्य गोविन्द पिशॉरडी के घर पर मिलीं। इन पाण्डुलिपियों के मिलने के बाद स्थानीय अध्येताओं से कुछ और पाण्डुलिपियाँ भी प्राप्त हुईं।

गणपति शास्त्री ने भास के इन नव उपलब्ध नाटकों का अध्ययन आरम्भ किया। उन्होंने पाया कि सभी रूपक नान्दी श्लोक से आरम्भ होने की जगह रंगनिर्देश 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' से आरम्भ होते हैं और इसके बाद इनमें मङ्गलाचरण का पद्य आता है। इन पाण्डुलिपियों में लिपिबद्ध रूपकों में 'प्रस्तावना' शब्द के स्थान पर 'स्थापना' शब्द का प्रयोग था। श्री शास्त्री ने प्राप्त पाण्डुलिपियों के सभी रूपकों में उपस्थित नाट्यलेखन की इन विलक्षणताओं से यह निश्चय किया कि इन सभी के रचयिता एक ही हैं। राजशेखर की 'सूक्तिमूक्तावली' में आये महाकवि भास सम्बन्धी निम्नलिखित श्लोक से यह स्पष्ट था कि नाटकचक्र की रचना करने वाले कवि भास नाम के एक महाकवि कभी हो चुके हैं।

*प्रोफेसर, भारतीय संस्कृत संस्थान, भोपाल केन्द्र।

भासनाटकचक्रेऽपि छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्।

स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽपिभून्न पावकः।।

इस प्रकार यहाँ-वहाँ बिखरे विभिन्न संकेतों को परम्परा से उपलब्ध अभिनवगुप्त आदि के 'भास-संकेतों' से जोड़ते हुए गणपति शास्त्री इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इन सभी पाण्डुलिपियों में उपलब्ध रूपकों के रचयिता महाकवि भास हैं। तब गणपति शास्त्री ने इन पाण्डुलिपियों को सम्पादित कर प्रकाशित कराया। यह भी बात सामने आयी कि 'भासनाटकचक्र' के नाम से प्रकाशित रूपकों के अनेक अंकों का स्वतन्त्र मंचन लगभग हजार वर्षों से केरल के मन्दिरों के नाट्यगृह 'कुत्तम्बलम्' पर कुड़ियाट्टम् रंग-नृत्यशैली में होता आया है।

भारत की पारम्परिक शैलियों में केरल का कुड़ियाट्टम् प्राचीनतम रंगशैली है। इसमें रंगमंच पर आने वाले मुख्य अभिनेताओं को 'चाक्यार' कहा जाता है। ये पुरुष पात्र होते हैं। स्त्री पात्रों की भूमिका निभाने वाली 'नाग्यार' कहलाती हैं, जो विशेष श्लोकों का पाठ करने में भी सहायता करती हैं। वेशभूषा, सज्जा, रंगमंच की सामग्री यानि आहार्यादि की व्यवस्था देखने वाले 'नाम्ब्यार' कहलाते हैं। इसमें एक ही अभिनेता अनेक भूमिकाएँ निभाता है। कई पात्र रंगमंच पर नहीं आते, उन्हें या तो मशाल उपस्थित करती है या उनकी भूमिका वे निभाते हैं जो अन्य भूमिकाएँ निभा रहे होते हैं। कुड़ियाट्टम् में खेले जाने वाले कुल बीस नाटकों में भास के अलावा शक्तिभद्र, बोधायान, कुलशेखर बर्मन, श्रीहर्ष, महेन्द्र विक्रम पल्लव और नीलकण्ठ के नाटक भी शामिल हैं किन्तु उन बीस नाटकों में से अकेले तेरह नाटक महाकवि भास के हैं।

केरल के जिस पारम्परिक रंगमंच पर कुड़ियाट्टम् किया जाता है, उसे 'कुत्तम्बलम्' कहते हैं। कुत्तु का अर्थ है 'नाट्य' और अम्बलम् का अर्थ है 'गृह' या 'मन्दिर' : मन्दिर का रंगमंच। कुत्तम्बलम् के तीन भाग होते हैं - नेपथ्य, रंगमंच तथा मृदंगपद। यह विभाजन भरतमुनि के बताये रंगमंच विभाजन से मिलता-जुलता है। केरल में विभिन्न आकार के लगभग उन्नीस कुत्तम्बलम् अभी भी विभिन्न स्थानों पर सक्रिय हैं। दसवीं शताब्दी में कुड़ियाट्टम् के अस्तित्व में आने के प्रमाण एक अन्य भास अध्येता कुंजुनि राजा ने दिये हैं। 994 ई. में एक शिलालेख में कुमारन् श्रीकण्ठन् के सम्मान में आयोजित एक नृत्य सभा का उल्लेख है, जो स्वयं आर्यकुट्टु (संस्कृत नाटक) करने में प्रवीण थे। इसी समय के चोल शिलालेखों में कुट्टुचाक्यन् (संस्कृत नाटक के अभिनेता) तथा उनको दिये जाने वाले आर्थिक अनुदान का उल्लेख है। केरल में उपलब्ध सबसे पुराना और परिष्कृत कुत्तम्बलम् कीतान्पुर का है।

कुड़ियाट्टम् में आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक अभिनयों में मनोमय, विज्ञानमय और प्राणमय कोष सक्रिय होते हैं। अभिनेता के साँस लेने, साँस छोड़ने और स्नायुतन्त्र के विभिन्न स्थलों पर दबाव डालने से प्राणमय कोष सक्रिय होता है, जो विभिन्न संवेगों, क्रियाओं और वाणी की अभिव्यक्ति को सजीव बना देता है।

मनोमय कोष मानसिक व्यापार में सक्रिय होता है, जहाँ भाव और कल्पना का अध्यारोपण होता है। मानसिक सृजन कुड़ियाट्टम् की विशेषता है। चाक्यार अपने नाटक का प्रदर्शन करते हुए लिखित पाठ की तुलना में उसे कितनी ऊँचाई तक ले जा सकते हैं इसका अनुमान इस उदाहरण से लगाया जा सकता है कि भास के प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् के तीसरे अंक के मात्र एक एकालाप को चाक्यार अड़तीस रातों तक करते हैं। ऐसी उदात्त कल्पना का नियन्त्रण विज्ञानमय कोष करता है। कुड़ियाट्टम् में पूरे नाटक का प्रदर्शन न करके उसके चुने हुए किसी एक अंक का प्रदर्शन विस्तार से किया जाता है।

केरल में चाक्यार भास के तेरह नाटकों (रूपकों) के अलग-अलग पैंतीस अंकों को सदियों से अभिनीत कर रहे थे, यह जाने बिना कि ये किन नाटकों के अंक हैं और इनका रचयिता कौन है? यह इस बात का द्योतक है कि भास के ये रूपक सदियों से रंगकर्मियों को प्रिय रहे हैं। 'भासनाटकचक्र' के प्रकाशन के बाद ये रूपक अनेक आधुनिक रंगकर्मियों के आकर्षण के विषय भी बनते गये। दिल्ली की शान्ता गाँधी हों या मणिपुर के रतन थियम, केरल के कावालम् नारायण पणिक्कर हों या कश्मीर के बंसी कौल, इन सभी समकालीन, पारम्परिक या आधुनिक रंगकर्मियों ने भास के रूपकों में भारतीय रंगमंच की नयी सम्भावनाओं को उद्घाटित किया।

भास के नाट्यलेखन की ओर रंगकर्मियों का यह आकर्षण उन रंगयुक्तियों के कारण भी रहा है जो उनके रूपकों में अंकित हैं जिनसे इन रूपकों को मंचित करने का विशिष्ट मार्ग प्रशस्त होने के साथ-साथ समूचे रंगकर्म को भी समृद्धि मिली है। दूसरे शब्दों में, भास का स्थान उन नाट्यकारों में सर्वोपरि है जिनके नाट्यलेखन से रंगकर्म अनेकशः विकसित हुआ है। अतः भास के रूपक साहित्य की दृष्टि से जितने महत्त्वपूर्ण हैं, उससे कहीं अधिक वे रंगकर्म की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

यदि आप कुड़ियाट्टम् देख रहे हों और उसमें अभिषेकनाटकम् के पहले अंक 'बालिवधम्' में बाली का अभिनय करते हुए श्री माधव चाक्यार राम का तीर लगने से हो रही बाली की मृत्यु का अभिनय कर रहे हों तो आप जान पायेंगे कि किस तरह बाली के एक-एक अंग में मृत्यु प्रवेश कर रही है और अन्त में उसके चेहरे के एक-एक भाग को निष्क्रिय करती हुई वह उसके कपोलों से हो कर उसकी आँखों में जा ठहरी है।

कुड़ियाट्टम् में चाक्यारों के लिए महाकवि भास के नाटकों में इतने विस्तार से अभिनय करना कैसे सम्भव हो पाता है, यह जानने के लिए हमें भास के नाटकों के लिखित पाठ की ओर जाना होगा। कुड़ियाट्टम् में पूरे नाटक को न करके चुने हुए किसी एक अंक का अभिनय विस्तार से किया जाता है।

अनेक रंगनिर्देशकों और नाट्यशास्त्रज्ञों ने भास के नाट्यलेखन की विशेषताओं का उल्लेख किया है। श्री डी.अप्पुकुट्टन नायर कहते हैं:



‘भास अपनी अभिव्यक्ति में अत्यन्त संक्षिप्त और नपे तुले हैं। वे उन चीजों के सहारे कहीं अधिक कहते हैं, जिन्हें वे कहते नहीं। वे मौन के पुरोधे हैं, उनका यह मौन अर्थगर्भी है।’

भास के नाटकों में पाठ की संक्षिप्तता से चाक्यारों ने जो सम्बन्ध बनाया उसे कुड़ियाड्डम् रंग-नृत्य शैली में चरितार्थ हुआ देखा जा सकता है। भास अपने वाक्य इस तरह लिखते हैं कि वे महज वाक्य की तरह नहीं, पद की तरह व्यवहृत हो सकें। इन्हीं वाक्य-रूप पदों में अर्थ का अभिनय करते हुए चाक्यार नाट्यपाठ को नृत्यपाठ में रूपान्तरित कर देते हैं। दूसरे शब्दों में चाक्यार वाक्य में आसन्न पद की अनेक सम्भावनाओं को अपने पदार्थाभिनय से खोल देते हैं।

भास निश्चय ही नाटक में वाचिक की सीमा को जानते थे, सम्भवतः इसीलिए उन्होंने नाट्यपाठ संक्षेप में लिखे हैं। ऐसा करते हुए उन्होंने नाटक में वाचिक के प्रभुत्व के समकक्ष वाचिक की मर्यादा की प्रतिष्ठा की। उनका ऐसा करना चाक्यारों के लिए अपने अभिनय में विशेष रूप से उपादेय हो सका। मानो भास ने आंगिक आदि अभिनय की व्याख्या की प्रत्याशा में ही अपना नाट्यपाठ रचा हो।

भास, अपने नाटकों की शुरुआत में ही ‘नाद्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः’ नाट्यनिर्देश लिख कर अभिनेताओं और निर्देशकों को, मणिपुर के महान समकालीन रंगकर्मी श्री रतन थियाम के अनुसार, यह चुनौती देते हुए जान पड़ते हैं कि मैंने तो अपना नाटक लिख दिया अब आप अपनी नान्दी से इस नाटक के मंगलाचरण को और इस नाटक को जोड़िए। इसीलिए भास के नाटकों में प्रयोग की सम्भावनाएँ आरम्भ से ही शुरु हो जाती हैं। सम्भव है कि चाक्यारों ने इस नाट्यनिर्देश में अन्तर्निहित चुनौती को स्वीकार करते हुए ही ‘अरंगुतली’ (मंगलाचरण) में नाटक के नायक की स्वतन्त्र स्तुति की कल्पना की हो। उदाहरण के लिए भास ने ‘अभिषेकनाटकम्’ में यह मंगलाचरण लिखा है :

*यो गाधिपुत्रमखविघ्नकराभिहन्ता युद्धे विराधखरदूषणवीर्यहन्ता ।
दर्पोद्धतोल्बणकबन्धकपीन्द्रहन्ता पायात् स वो निशिचरेन्द्र कुलाभिहन्ता ॥*

‘जिन्होंने विश्वामित्र के यज्ञ में विघ्न करने वाले राक्षसों का वध किया, युद्ध में विराध खर, दूषण आदि राक्षसों के पराक्रम का अन्त किया, और अतिगर्वी कबन्ध तथा बाली का वध किया, वह रावण के कुल का अन्त करने वाले भगवान् आप का कल्याण करें।’

जबकि कुड़ियाड्डम् में ‘अभिषेकनाटकम्’ के पहले अंक ‘बालिवधम्’ की ‘अरंगुतली’ (मंगलाचरण) में यह स्तुति की जाती है-

*सुग्रीवात्प्राप्तसख्यः चरणनखमुखोत्क्षिप्तदैत्येन्द्रकायो
विश्वासार्थं च सख्युः प्रविदलितमहासप्तसालः क्षणेन ।*

*भ्रात्रा संघट्टमानं परमलघुतरं बालिनं बान्धवार्थं
निघ्नन् बाणेन सूर्यान्वयमुकुटमणिः पातु वो रामचन्द्रः ॥*

‘जिन्होंने सुग्रीव से सन्धि की, असुरराज दुन्दुभि के मृत शरीर को अपने चरणनख से उखाड़ फेंका, सुग्रीव के विश्वास के लिए क्षण भर में एक ही बाण से सात साल वृक्षों को भेद दिया, सुग्रीव से मैत्री के लिए अपने भाई से युद्धरत बाली का वध किया, ऐसे रघुकुलमणि भगवान् रामचन्द्र आपकी रक्षा करें।’

इस नान्दी में ‘अभिषेकनाटकम्’ के पहले अंक की कथावस्तु, मंगलस्तुति और नाटक के नायक की स्तुति को चाक्यारों ने एक साथ समेट लिया है।

‘भासनाटकचक्र’ के तरह रूपकों में विविध पात्र और संवाद अभिनेताओं के लिए सदियों से आकर्षण का केन्द्र रहे हैं। इसका एक कारण तो यह है कि भास अपने चरित्रों के अनेक आयामों को उद्घाटित करते हैं। ‘उरुभंगम्’ में दुर्योधन के चरित्र को भास ने इस तरह रचा है कि उसके बारे में दर्शकों के मन में यह द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है कि वह दुर्योधन है या सुयोधन। दुर्योधन के इन दो आयामों के बीच भास इस तरह का तनाव बनाये रखते हैं कि रूपक की समाप्ति पर भी वह तनाव जीवन्त बना रहता है। इसी तनाव का वहन करते हुए अभिनेता दुर्योधन के चरित्र को अनेक दिशाओं में विस्तार दे पाते हैं। इसलिए अभिनेताओं और रंगनिर्देशकों को भास के चरित्रों का अभिनय करना चुनौतीपूर्ण लगता रहा है।

श्री कावालम् नारायण पणिककर भास के रूपकों के मंचन के लिए सुविख्यात रहे हैं। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि समकालीन विश्व में महाकवि भास के रूपकों को पुनः प्रतिष्ठित करने में श्री पणिककर का योगदान सर्वाधिक महत्व का है। उन्होंने महाकवि भास के सात रूपकों का मंचन करने के साथ ही पूरे ‘भासनाटकचक्र’ का मलयालम भाषा में अनुवाद किया है। तिरुवनन्तपुरम्, केरल में रहने वाले सुविख्यात रंगनिर्देशक कावालम् नारायण पणिककर पिछले चार दशकों से भारतीय रंगकर्म की एक केन्द्रीय उपस्थिति रहे हैं। वे श्रेष्ठ रंगनिर्देशक होने के साथ कवि, केरल की लोककलाओं एवं संगीत के विशेषज्ञ और मोहिनीअट्टम् नृत्य में संगीत के गुरु हैं।

श्री पणिककर का जन्म केरल के कुट्टनाड अंचल के खूबसूरत गाँव कावालम् में हुआ था। वहाँ रहते हुए वहाँ के किसानों से और उनके सांस्कृतिक बोध के प्रति उनमें गहरे लगाव ने जन्म लिया। खेतिहर समुदाय की सांस्कृतिक चेतना ने पणिककर की कलात्मक दृष्टि को अतीव समृद्धि प्रदान की। उनके पिता श्री गोद वर्मा ने पणिककर का परिचय साहित्य-संसार और रामायण एवं महाभारत जैसे महाकाव्यों से कराया। कावालम् के उनके घर में इन महाकाव्यों को नियमित रूप से पढ़ने की परिपाटी थी जिसमें उनकी माँ कुंजु लक्ष्मी, नानी और पड़ोस की स्त्रियाँ भागीदार होती थीं।

नाटककार और रंगकर्मी के रूप में श्री कावालम् नारायण पणिककर की पहली महत्वपूर्ण प्रस्तुति ‘देवतार’ थी। उनके लिखे इस नाटक को कुमार वर्मा ने उनकी सहायता

से निर्देशित किया था। 1974 में वे तिरुवनन्तपुरम् आ गये। वहाँ उन्होंने अपना प्रसिद्ध नाटक, 'अवन वन कडम्बा' लिखा, जिसे जाने माने फिल्मकार जी. अरविन्दन ने उनकी मदद से निर्देशित किया। 'अवन वन कडम्बा' की प्रस्तुति को रंगमंच के लिए एक नया प्रस्थान बिन्दु कहा जा सकता है। कावालम् नारायण पणिक्कर के रंगजीवन का सबसे महत्वपूर्ण क्षण तब घटा जब उज्जैन के कालिदास समारोह में अशोक वाजपेयी ने उन्हें भासकृत संस्कृत नाटक 'मध्यमव्यायोग' के प्रदर्शन के लिए आमन्त्रित किया। दर्शकों और सामाजिकों के लिए इस प्रदर्शन के साथ ही एक बार फिर संस्कृत रंगकर्म की शक्ति प्रकट हुई। तब से लेकर आज तक पणिक्कर ने कई संस्कृत नाटकों का निर्देशन किया। उन्होंने महाकवि भास के 'मध्यमव्यायोग', 'दूतवाक्यम्', 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण', 'स्वप्नवासवदत्तम्' समेत सात नाटकों का निर्देशन किया है।

इन सारे संस्कृत नाटकों को गैरयथार्थवादी और कल्पनाशील रंगयुक्तियों के साथ करते हुए पणिक्कर ने अनेक मलयालम् नाटक लिखे और निर्देशित किये, इनमें 'साक्षी' और 'कलिवेशम्' प्रमुख हैं। हाल ही में उन्होंने मलयालम् में 'छायायान' का लेखन एवं निर्देशन किया है।

भास के नाटकों के विशिष्ट प्रयोक्ता कावालम् नारायण पणिक्कर ने 'प्रतिमानाटकम्' का मंचन करते हुए प्रतिमा शब्द की अनूठी व्याख्या की है। वे कहते हैं:

'मैं इस बात से सन्तुष्ट नहीं था कि भास ने इस नाटक का नाम 'प्रतिमानाटकम्' केवल इसलिए रखा होगा कि इसमें जिस जगह भरत अपने ननिहाल से वापस अपने पिता के घर लौट रहे हैं, वे एक ऐसे प्रतिमागृह में अपने पिता दशरथ की प्रतिमा देखते हैं, जहाँ केवल मृतकों की प्रतिमाएँ ही प्रदर्शित की गयी हैं। मेरी समझ में 'प्रतिमानाटकम्' में प्रतिमा का केवल इतना-सा अर्थ होना सम्भव नहीं था। इस नाटक में प्रतिमा के विचार के आशयों को टटोलते हुए मुझे लगा कि नाटक में जिस जगह भरत राम की पादुकाएँ लेकर वापस लौटते हैं, वहाँ से मुझे इस नाटक को छोड़ देना चाहिए। मैंने निश्चय किया कि मैं इस नाटक में 'प्रतिमा के बिम्ब' को अपने मंचन के केन्द्र में रख कर नाटक की परिकल्पना करूँगा और मुझे लगा कि स्वयं भास इसकी अनुमति देते हैं।'

पणिक्कर अपनी इस विचारधारा को परिणति तक पहुँचा सकें इसके लिए उन्हें एक पाठेतर-पाठ की आवश्यकता थी, जो उन्हें मूल रामायण में मिल गया। भास ने 'प्रतिमानाटकम्' में लिखा है कि दशरथ की मृत्यु के पहले राम, लक्ष्मण और सीता शोकमग्न दशरथ की अनुमति लिये बिना ही वन चले जाते हैं। दशरथ उस ओर देख कर जहाँ से राम, लक्ष्मण और सीता गये थे, विलाप करते हैं -

सूर्य इव गतो रामः सूर्य दिवस इव लक्ष्मणोऽनुगतः।

सूर्यदिवसावसाने छायेव न दृश्यते सीता।।

'सूर्य के समान राम चले गये, सूर्य के जाने पर दिवस की भाँति लक्ष्मण भी चले गये, सूर्य और दिवस का अवसान होने पर छाया की तरह सीता भी दिखाई नहीं दे रही।'

'प्रतिमानाटकम्' के इस दृश्य और प्रतिमागृह के मंचन के सन्दर्भ में पाठेतर-पाठ की व्याख्या करते हुए पणिक्कर कहते हैं-

'मैंने इन तीनों को जंगल में जाते हुए दिखाया, दर्शकों की ओर जाते हुए, वे तीनों रंगमंच पार कर रहे हैं और धूलधूसरित दशरथ उन्हें पुकार रहे हैं। दशरथ पुकारते-पुकारते गिर जाते हैं। इस क्षण के बाद वे स्वयं को मृत्यु के लिए तैयार कर रहे हैं। इस वक्त मैंने यह दिखाया कि सूर्यवंश के तीन महापुरुष दिलीप, अज और रघु बारी-बारी से मंच पर आते हैं, वे दशरथ को पुकारते हैं, उन्हें अपने साथ सम्मिलित होने का न्यौता देते हैं। अपने पूर्वजों से घुलने-मिलने की प्रक्रिया में दशरथ भी प्रतिमा में रूपान्तरित हो जाते हैं। मंच पर जैसे वे सभी मिल कर एक आकृति बन गये हों। और तब इन प्रतिमाओं से सज्जित प्रतिमागृह में भरत प्रवेश करते हैं। वे पूजा करना चाहते हैं। प्रतिमागृह का पालक देवकुलिक उन्हें कहता है कि यह न करें, यह देवालय नहीं, यह वह स्थान है, जहाँ इक्ष्वाकुकुल रहता है। इस पर भरत कहते हैं कि मुझे बताइए यहाँ किन-किन लोगों की प्रतिमाएँ हैं। वे यह इसलिए कहते हैं क्योंकि प्रतिमागृह नया बना है, यानी भरत के ननिहाल जाने के बाद बना है। इसलिए भरत को उसके बारे में पता नहीं है। उन्हें तो यह भी पता नहीं है कि दशरथ की मृत्यु हो चुकी है।

अयोध्या में प्रवेश करने के लिए कृत्तिका नक्षत्र के बीतने की प्रतीक्षा करते हुए भरत संयोग से इस नये बने प्रतिमागृह में आ गये हैं। प्रतिमापालक देवकुलिक प्रत्येक प्रतिमा के बारे में भरत को बताता जाता है। 'ये राजा दिलीप हैं, उन्होंने यह यह किया था आदि।'

मैंने सारे पूर्वजों को मुखौटा पहने दिखाया है, उन्हें देख कर भरत और देवकुलिक गोल घेरे में घूमते हैं। 'ये राजा अज हैं इन्होंने यह यह किया है।' भरत भी अपनी तरफ से कुछ बोलते हैं, अच्छा ये वही राजा अज हैं जिन्होंने ऐसा-ऐसा किया है वगैरह। और तब वे देवकुलिक से पूछते हैं, ये कौन है? उन्हें स्वयं अपने पिता की प्रतिमा पर सन्देह होता है। वे पूछते हैं, 'क्या इस प्रतिमागृह में जीवितों की प्रतिमाएँ भी रखी गयी हैं?' देवकुलिक कहता है नहीं, केवल उन्हीं की जो जा चुके हैं, 'अतिक्रान्तानामेव।' इस तरह भरत को अपने पिता की मृत्यु की खबर मिलती है और वे वहीं मूर्च्छित हो जाते हैं।

तभी संयोग से सुमन्त्र के साथ कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा प्रतिमागृह में आती हैं और देखती हैं कि भरत वहाँ गिरे पड़े हैं। भरत सुमन्त्र से कहते हैं, 'मैं। माताओं को प्रणाम करने का क्रम जानना चाहता हूँ, आप मेरा इनसे परिचय कराइए।' पहले कौशल्या का परिचय कराया जाता है, 'ये राम की माँ हैं।' फिर सुमित्रा का, 'ये लक्ष्मण की माँ हैं', और कैकेयी के लिए कहा जाता है कि 'ये आप की माँ है।' भरत प्रणाम किये बिना क्रोधित हो कर कहते हैं, 'आ: पापे, तुम मेरी इन माताओं के बीच ऐसी लग रही हो जैसे गंगा और जमुना के बीच प्रविष्ट हुई कोई कुनदी।' तभी वशिष्ठ और वामदेव भरत को यह सन्देश भेजते हैं, 'जैसे गोपाल के बिना गायें वैसे ही राजा

के बिना प्रजा नष्ट हो जाती है, इसलिए आप का राज्याभिषेक हो।' इस पर भरत कहते हैं कि राम के बिना अयोध्या में रहने का अर्थ ही क्या है? राम के बिना अयोध्या, अयोध्या नहीं है। अयोध्या वहीं है जहाँ राम हैं।

नायोध्या तं विनायोध्या सायोध्या यत्र राघवः'

यह कह कर भरत वहाँ से सीधे वन चले जाते हैं। इसके पश्चात् पणिक्कर निर्देशित इस नाटक के मंचन में भरत वन जाकर अपने बड़े भाई से पादुका और उनके नाम पर राज्य चलाने की अनुमति लेकर लौट आते हैं। उनके अयोध्या लौटने से पहले राम उन्हें सलाह देते हैं।

श्री पणिक्कर ने यहाँ पाठेतर-पाठ (ध्वनि पाठ) का उपयोग किया है, 'मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति', तुम्हें अपनी माँ के प्रति कोई रोष नहीं होना चाहिए, यह सलाह राम भरत को देते हैं, जिसे उन्होंने सीधे 'वाल्मीकि रामायण' से लिया है। वन से लौटते समय यह सलाह भरत के कानों में लगातार गूँजती है। वन जाते समय भरत ने अपनी माँ से झगड़ा किया था, अब वे उसी रास्ते से लौट रहे हैं अर्थात् वे उसी रास्ते से लौट रहे हैं जहाँ प्रतिमागृह है। प्रतिमाएँ उनके रास्ते में आ जाती हैं, उन संयुक्त प्रतिमाओं के सामने जिसमें उनके पिता की प्रतिमा भी सम्मिलित है, वह सिर पर पादुका रखे हैं और उसकी स्मृति में यह गूँज रहा है, 'मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति' और इसे ही उसकी मृत पूर्वज अंगीकार कर लेते हैं। वे भी वही कहना प्रारम्भ कर देते हैं। वे भी राम के उस उपदेश गान को दोहराने लगते हैं। यहाँ श्री पणिक्कर पुनः भास के लिखित पाठ पर लौट आते हैं, वे कहते हैं:

'यहाँ कैकेयी भरत को बताती हैं कि उसे यह सब क्यों करना पड़ा। इसे मैंने बहुत संक्षेप में मंचित किया है। भरत समझ जाते हैं कि उन्हें अपनी माँ के प्रति रोष नहीं रखना चाहिए और वे प्रतिमाओं की अर्थात् पूर्वजों की उपस्थिति में कैकेयी के चरणों पर गिर पड़ते हैं। यहीं मैंने इस नाटक को समाप्त किया है, जिससे मैं इस नाटक को 'प्रतिमा' और 'प्रति मा' भी कहने का साहस जुटा सका।'

महाकवि भास एक ऐसे नाट्यकार हैं जिनकी नाट्य कृतियों ने एक ओर कुड़ियाट्टम् जैसी पारम्परिक रंग-नृत्य शैली के कलाकारों की कल्पना को शताब्दियों तक उद्दीप्त किया है वहीं दूसरी ओर उनके नाटकों में समकालीन शीर्षस्थ रंगनिर्देशक श्री कावालम् नारायण पणिक्कर ने अपनी विभिन्न रंग-सम्भावनाओं को चरितार्थ किया। किसी भी महान् कवि की तरह भास की कृतियाँ भी अपने अन्दर उन अवकाशों को जीवन्त बनाये रखती हैं जिनसे हर देशकाल के मनुष्य का सुख-दुख, राग-विराग स्पन्दित हो सके। भास के नाटकों के साथ इतनी तरह के प्रयोग इसलिए हो सके क्योंकि उनके लिखने की शैली में इन सम्भावित प्रयोगों की आसन्नता जैसे भास की लेखनी ने ही गढ़ दी थी। भास के नाटकों में अन्तर्भूत प्रयोग न उसके उपसर्ग हैं, न उसके प्रत्यय, वे उसकी मूल धातु हैं।



वेंडी डोनीजर का 'वैकल्पिक' हिन्दू इतिहास

शंकर शरण*

अल्डस हक्सले ने एक बार कहा था कि बुद्धिजीवी वह होता है जिसने सेक्स से भी अधिक रुचिकर कोई चीज खोज ली हो। भारत संबंधी अध्ययन में ऐसा कोई विकल्प ही नहीं है...। (भारत में) क्या सेक्स ईश्वर का दूसरा नाम है। या कि ईश्वर सेक्स का दूसरा नाम है। या कि दोनों ही बात है!

वेंडी डोनीजर, स्वेन ए लिंगम इज जस्ट ए गुड सिगार

वेंडी डोनीजर शिकागो विश्वविद्यालय में धार्मिक अध्ययन विभाग (डिवीनिटी स्कूल) की प्रोफेसर हैं। उनकी प्रसिद्धि भारतविद (इंडोलॉजिस्ट) के रूप में है। पश्चिम में हिन्दू धर्म और प्राचीन भारतीय संस्कृत ग्रंथों पर उन्होंने सबसे अधिक संख्या में पी.एच.डी. करवाई है। वेंडी हिन्दू धर्म के अध्ययन की इतनी बड़ी हस्ती हैं कि उन्हें 'क्वीन ऑफ हिन्दुइज्म' कहा जाता है। किन्तु इधर उनकी पुस्तक द हिन्दूज : एन अल्टरनेटिव हिस्ट्री (2009) को इसके प्रकाशक पेंग्विन-वाइकिंग ने बाजार से वापस कर लिया। इस पुस्तक पर भारत में कुछ हिन्दू संगठनों ने यह कहते हुए मुकदमा किया था कि इसमें गलत तथ्य और हिन्दू धर्म तथा देवी-देवताओं के बारे में दुराग्रही, अपमानजनक बातें हैं। मुकदमे के दौरान अंततः दोनों पक्षों ने आपसी समझौता कर लिया। इसके अंतर्गत प्रकाशक ने पुस्तक की छपी प्रतियों को वापस कर लिया।

निस्सन्देह, अकादमिक, वैचारिक पुस्तकों को प्रतिबंधित करने जैसी माँगें करना गलत है। जिन पुस्तकों से असहमति हो, उसके उत्तर में प्रतिवादी पुस्तकें प्रकाशित की जानी चाहिए, ताकि स्वस्थ विचार-विमर्श के साथ ज्ञान का विकास हो। इस लेख में वेंडी डोनीजर की इस पुस्तक, और उनके लेखन की एक संक्षिप्त समालोचना प्रस्तुत की जा रही है।

IV/44, एन.सी.ई.आर.टी. आवास, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली 110 016

वेंडी डोनीजर लंबे समय से हिन्दू धर्म, हिन्दू रीति-रिवाज, पर्व-त्यौहार, देवी-देवताओं की एक काम-केंद्रित व्याख्या करती रही हैं। जैसा ऊपर उनके अपने शब्दों में ही¹ झलकता है, वे भारतीय धर्म-संस्कृति, शास्त्रों का अध्ययन करना और काम-क्रिया या कल्पना का सुख उठाना एक जैसा कार्य मानती हैं! यह निश्चित रूप से एक विचित्र दृष्टिकोण है, पर यह वेंडी डोनीजर की भारत संबंधी विद्वता का बुनियादी दर्शन, उनका सिग्नेचर-ट्यून है।

उदाहरण के लिए, वेंडी हिन्दू धर्म के अध्ययन के मूल स्रोतों की चर्चा कैसे करती हैं, यह उनकी छब्बीस वर्ष पुरानी पुस्तक टेक्सचुअल सोर्सिज फॉर द स्टडी ऑफ हिन्दुइज्म (1988) में भी देख सकते हैं। पुस्तक में वेदों और बुनियादी हिन्दू ग्रंथों की जानकारी दी गई है। इसमें विभिन्न अध्यायों के अंतर्गत उप-खण्डों के शीर्षक इस प्रकार हैं 'कुत्तों को मारना', 'स्त्रियों का मजाक उड़ाना', 'राजा जनता के साथ मैथुन करता है', 'किस तरह की स्त्री के साथ संभोग न करना', 'वैसी विवाहिता स्त्री जो तुम्हारे साथ संभोग करेगी', 'वैसी विवाहिता जो तुम्हारे साथ संभोग नहीं करेगी', आदि²। ऐसे शीर्षकों के अंतर्गत वेंडी डोनीजर ने हिन्दुइज्म के अध्ययन का अंतरराष्ट्रीय मार्गदर्शन किया है!

इसीलिए, स्वाभाविक है कि देश-विदेश में अनेक भारतीय विद्वान और अवलोकनकर्ता वेंडी की आलोचना भी करते रहे हैं कि उन्होंने हिन्दू धर्म को विकृत करके प्रस्तुत किया। इस प्रकार, अमेरिका, यूरोप के अनजान युवाओं और नीति-निर्माओं को भ्रमित किया। इससे भारत के प्रति पश्चिमी देशों, वहाँ की प्रभावशाली अकादमिक संस्थाओं का नजरिया भी दुष्प्रभावित हुआ। अतः जिस तरह वेंडी डोनीजर के लेखन को स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए, उसी तरह उनके आलोचकों की बातों को भी स्थान मिलना चाहिए। विशेषकर जब वह तथ्यों, तर्कों के आधार पर की जाए।

वेंडी की सबसे अधिक आलोचना इसी बात के लिए होती है कि वे हिन्दू धर्म, हिन्दू इतिहास में सब कुछ सेक्स के कोण से ही देखने, खोजने की कोशिश करती हैं। जैसे, जब उनकी पुस्तक द हिन्दूज : एन अल्टरनेटिव हिस्ट्री (2009) पहले-पहल छपी तो भारत में अंग्रेजी साप्ताहिक (आउटलुक) (26 अक्टूबर 2009 अंक) ने उन का साक्षात्कार लिया था। उस साक्षात्कार में भी रामायण संबंधी सारी चर्चा सेक्स-केंद्रित है। मानो पूरी रामायण में राम-सीता, सीता-लक्ष्मण, सीता-रावण तथा कैकेयी-दशरथ के सेक्स-संबंध या सेक्स-भावनाएँ ही केंद्रीय बातें हों। वेंडी के अनुसार दशरथ 'सेक्स-एडिक्ट' थे, राम भी वैसे ही 'सेक्स-एडिक्ट' होने के कगार पर थे, जब उन्होंने सीता को निकाल बाहर किया। साक्षात्कार में वेंडी की केंद्रीय बात सुर्खियों में इन शब्दों में रखी गई थी, राम सीता के साथ बड़े खुश थे...। हर तरह के मजे किए... और फिर उन्होंने उसे बाहर निकाल फेंका।' (राम वाज हैप्पी विद सीता...। इन्डलिंग इन एवरी वे... एंड देन ही थ्रू हर आउट।)³

इस तरह की बातें वाल्मीकि रामायण में नहीं हैं। पर वेंडी कहती हैं कि वाल्मीकि रामायण में भी वैसे प्रसंग रहे होंगे, जिन्हें बाद में 'ब्राह्मणों ने हटा दिया होगा'। पर यह वे केवल अनुमान से कहती हैं, इसका कोई प्रमाण नहीं देतीं। इसी तरह, 'संभवतः' कहकर वे बड़े-बड़े दावे करती रही हैं। उनके शिष्यों के शोध-प्रकाशनों में भी इसी तरह प्राचीन हिन्दू ग्रंथों की मनमानी व्याख्या मिलती है। गंभीरता से परखने पर दिखता है कि वैसे दावे करते हुए कुछ पक्के प्रमाण देने या ढूँढ़ने की चिंता तक नहीं की गई है। बल्कि कई बार दूसरों के शब्दों में अपने मनमाने अर्थ देने और घाल-मेल की प्रवृत्ति झलकती है। उदाहरण के लिए, वेंडी के अनुसार :

“वाल्मीकि रामायण में एक अध्याय है जहाँ राम सीता के साथ बहुत खुश हैं, साथ-साथ शराब पीते हैं (ड्रैंक वाइन टुगेदर), दोनों अकेले हैं, केवल सेक्स-क्रिया ही नहीं, बल्कि हर तरह से मजे कर रहे हैं। और बस अगले ही अध्याय में राम कहते हैं मैं तुम्हें निकाल बाहर करूँगा। तो मेरा कहना है कि : इन दोनों चीजों में क्या संबंध है और इसका क्या मतलब है कि राम जानते हैं कि दशरथ, उनके पिता ने अपने को सार्वजनिक रूप से गिरा लिया है (डिसग्रेस्ड हिमसेल्फ), क्योंकि अपनी जवान और खूबसूरत बीवी से उनका लगाव है। तो मैं रामायण के जहाँ-तहाँ पड़े टुकड़ों को इकट्ठा कर रही हूँ और बता रही हूँ कि यह सब असंबद्ध नहीं है।”⁴

इस कथन को ध्यान से पढ़ें तो वेंडी डोनीजर की वैचारिक गड़बड़ियाँ एक साथ दिखती हैं। पहली बात, वे वाल्मीकि के वजन के सहारे ही अपनी उलटी-सीधी भी चलाना चाहती हैं। क्योंकि 'वैकल्पिक' इतिहास लिखने का दावा करने के बावजूद किसी अन्य स्रोत का उन्हें आधार नहीं मिलता। अन्यथा वे वाल्मीकि के अलावा किसी के द्वारा लिखी कथा के 'टुकड़े' बतातीं। लेकिन ऐसा न करके, वे वाल्मीकि के ही लेखन का अपना सेक्सी, विकृत पाठ करती हैं। फिर स्वयं विकृत किए गए पाठ को 'सुसंबद्ध' करने का नाम देती हैं। जबकि किसी ठोस सामग्री का वेंडी के पास इतना अभाव है कि राम-कथा के सन्दर्भ में ईसा पूर्व अवधि की चर्चा करने के बाद सीधे भक्ति-काल पर चली आती हैं। अर्थात्, बीच के पूरे पंद्रह-सत्रह सौ वर्षों के बारे में उनके पास कोई स्रोत-प्रमाण नहीं कि भारत में रामकथा क्या थी, कैसी थी। उसी तरह, भक्ति-काल के बाद भी वे सीधे बीसवीं सदी के यूरोपीय लेखकों या रोमिला थापर, ए. के. रामानुजन आदि वर्तमान कालीन लेखकों के हवाले से ही अपनी मनपसन्द व्याख्याएँ प्रस्तुत करती हैं। इससे साफ झलकता है कि वेंडी ने अपने पूर्व-निर्धारित निष्कर्षों के अनुरूप जहाँ-तहाँ से कैसी भी सामग्री जुटाने की विधि अपनाई है।

रामायण संबंधित ऊपर उद्धृत वेंडी के वक्तव्य में अकादमिक दृष्टि से हल्कापन है। उसमें बिना प्रमाण के नव-प्रस्तुति का खोखला दावा झलकता है। वहाँ और भी दावे हैं, जिनमें भी बिना प्रमाण महज घोषणाएँ मिलती हैं। जैसे, “दसवीं सदी में राम

के मंदिर बनने लगे, जब रामायण कथा में मिलावट या काट-छाँट होने लगी। ये दोनों प्रवृत्तियाँ एक साथ उभरीं।” इस दावे के पक्ष में वेंडी ने कोई प्रमाण नहीं दिया है। आज का श्रीलंका वह लंका नहीं है, जिसका वर्णन रामायण में है, यह कहने के लिए वेंडी रोमिला थापर का सहारा लेती हैं। पुस्तक में भी कई दावों के लिए वेंडी ऐसे ही किसी आज के पश्चिमी लेखकों के हवाले से सब कुछ इस तरह रखती जाती हैं, जैसे उनमें सन्देह की गुंजाइश कहाँ!

उसी साक्षात्कार में वेंडी कहती हैं, “कुछ लोग कहते हैं कि वास्तव में लक्ष्मण को सीता से प्रेम हो गया था, जो तुलसीदास तो नहीं कहते, न वाल्मीकि कहते हैं। फिर कुछ कहानियों में सीता को रावण की बेटी बताया गया है। बिलकुल हाल तक ऐसा था कि किसी का यह दावा नहीं था कि रामायण को केवल एक ही तरीके से कहा जाना है। ... भारत में हर कोई जानता है कि कहानियाँ कई तरह से कही जाती है।”⁵ यहाँ भी वेंडी अपनी पसन्द की विचित्र कथाओं का कोई स्रोत नहीं बतातीं। जबकि वे जानती हैं कि स्रोत का वजन होता है। मगर वाल्मीकि, तुलसी, आदि के नाम खूब लेने के बावजूद वे अपनी रंग-बिरंगी, कामुक, विकृत या 'वैकल्पिक' कहानियों के लेखक, वाचक, कथा-स्रोत आदि का कोई नाम नहीं लेतीं। यह तो बौद्धिक दुर्बलता या मनमानी ही है कि अपनी पसन्द की लनतरानियों या काम-विकृत फंतासियों को 'लोग कहते हैं' जैसे गोल-मटोल आधार पर इतिहास के नाम पर प्रस्तुत करें। बिना बताए, कि वे कौन से लोग हैं।

बौद्धिक मनमानी का एक अंदाज यह भी हो सकता है कि चूँकि वाल्मीकि, तुलसी, कम्बन आदि लेखकों के रूप में रामकथा के कई पाठ हैं। तो एक पाठ मेरा भी रहे! यानी यदि मुझे व्यभिचार, बलात्कार, विपरीत मैथुन या अप्राकृतिक मैथुन आदि रूपों में ही रामायण, महाभारत और हिन्दू देवी-देवताओं की व्याख्याएँ देने, समझाने का मन हो, तो इसे भी मानो कि यह भी एक पाठ है। क्योंकि 'लोग कहते हैं'। यहाँ मनमानी यह है कि इसे अपनी मानस-कल्पना न कहकर भारतीय परम्परा का ही कोई वैकल्पिक पाठ बताया जाता है। इसीलिए 'लोग कहते हैं' जैसे गोल-मटोल जुमले उपयोग किया गया है।

अन्यथा वेंडी कह सकती थीं कि अमुक स्थान पर, अमुक काल में, अमुक पुस्तक या लोक-कथा में सीता को लक्ष्मण से प्रेम करता दिखाया गया है, आदि। या, गणेश के मुँह पर सूँड़ को शिथिल शिश्न (लिंप फैलस) का प्रतीक बताया गया है।⁶ मगर वेंडी और उनके निर्देशित शिष्यों ने जग-जाहिर हिन्दू विविधता की आड़ में हिन्दू इतिहास में अपनी सेक्स-फंतासी डालकर उसे 'वैकल्पिक इतिहास' बनाने की कोशिश की है।

वेंडी की बातों और प्रस्तुति में अंतर्विरोध भी है। एक ओर, वे वाल्मीकि के हवाले से ही तरह-तरह की बातें कहती हैं। लेकिन फिर यह भी कहती हैं कि क्या पता

कोई वाल्मीकि हुआ भी था या नहीं। उनके ही शब्दों में, वाल्मीकि के हुए होने का 'कोई पक्का पता नहीं।' उसी तरह, एक ओर राम, सीता, दशरथ, रावण आदि के चित्र-विचित्र संबंधों का मनमाना आख्यान करके, दूसरी ओर यह भी कहती हैं कि राम समेत पूरी रामायण एक गल्प है। कोई इतिहास नहीं। अर्थात्, हिन्दू धर्म-समाज, पूर्वजों को सेक्स-विकृत या केंद्रित कहने में रामायण, महाभारत, आदि सब प्रामाणिक स्रोत हो जाता है, मगर उन्हीं से यदि कोई सांस्कृतिक, दार्शनिक गौरव का निष्कर्ष निकालना चाहे, तब वही रचनाएँ कोरा गल्प बताई जाती हैं! यह तो अकादमिक सुसंगति नहीं है।

अकादमिक कसौटी पर वेंडी डोनीजर के लेखन में और भी कमजोरियाँ हैं। सबसे पहले तो, हिन्दू धर्म पश्चिमी 'रिलीजन' की तरह का धर्म-मत या मतवाद नहीं है जिसे केवल पुस्तक को केंद्र में रखकर जान-समझ लिया जाए। सिद्धांततः वेंडी डोनीजर यह मानती भी हैं कि हिन्दू धर्म वैसा 'रिलीजन' नहीं है। अपनी 'टेक्सचुअल सोर्सज फॉर द स्टडी ऑफ हिन्दुइज्म' (1988) के आमुख में उन्होंने यह लिखा भी है कि हिन्दू धर्म किताबी सिद्धांतों की शुद्धता ('आर्थोडॉक्स') की बजाय आचरण, व्यवहार की शुद्धता ('ऑथोप्रेक्स') पर आधारित है।⁷ फिर भी, हिन्दू धर्म-संस्कृति-इतिहास पर वेंडी का संपूर्ण लेखन हिन्दू जनता के सदियों के व्यवहार को दरकिनार कर, केवल पुस्तकों पर आधारित है। वह भी पसन्दीदा निष्कर्षों वाली, बाहरी, यानी गैर-बुनियादी, यहाँ तक कि जैसी-तैसी हल्की पुस्तकों पर भी।

हिन्दू धर्म-संस्कृति पर वेंडी के लेखन की तीसरी बड़ी गड़बड़ी है कि उन्होंने द्वितीयक, तृतीयक और नितान्त अप्रामाणिक स्रोतों को समान महत्त्व देते हुए अपने निष्कर्ष रखे हैं। बल्कि उनके लेखन की अधिकांश आधार-सामग्री भारत से बाहर की, अर्थात् शोध की भाषा में कहे तो दूसरे, तीसरे दर्जे की सामग्री पर आधारित है। उदाहरण के लिए, 'द हिन्दूजः एन अल्टरनेटिव हिस्ट्री' (2009) के अंत में दी गई लगभग दो हजार पुस्तकों, लेखों की सूची या बिब्लियोग्राफी में लगभग 90% सामग्री विदेशी है।⁸ केवल यही तथ्य यह दिखाने के लिए काफी है कि पुस्तक मूल-स्रोतों पर नहीं, दूसरों, तीसरों, चौथों के विचारों पर आधारित होकर लिखी गई है। उन विचारों पर, जिनकी प्रामाणिकता जानने, पहचानने की भी विशेष फिक्र नहीं की गई। न उन्हें परखने, जाँचने का कोई उपाय पाठक के पास है। ऐसा लेखन लापरवाह, अहंकारी मानसिकता का संकेत करता है। जो पाठक से माँग करता है कि लेखिका की बातों, चुनावों, निष्कर्षों को स्वयं-सिद्ध मानकर चले। वेंडी में यह अहंकार और लापरवाही औपनिवेशिक, नस्ली, विचारधारात्मक है या/और लंबे समय से 'क्वीन ऑफ हिन्दुइज्म' की एकाधिकारी पदवी से उपजी है, यह कहना कठिन है। किन्तु उनमें यह लापरवाही और अहंकार है अवश्य।

अनेक स्थलों पर द्वितीयक स्रोतों के मूल स्रोत का उल्लेख न करना भी एक गंभीर अकादमिक कमजोरी है। इससे पाठक को पता नहीं चलता कि उस द्वितीयक स्रोत ने भी किसी प्रामाणिक सामग्री पर अपने को आधारित किया, या इसी तरह किसी और, किसी और द्वितीयक, तृतीयक स्रोत का ही सुविधाजनक सहारा लिया है। यह अकादमिक शोध नियमों की, बल्कि स्वयं शिकागो विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत मानक शोध दिशा-निर्देशों की भी अवहेलना है। किसी महत्त्वपूर्ण उद्धरण को उद्धृत करने में मूल स्रोत के सन्दर्भ या प्रसंग का उल्लेख तथा उस उद्धृत लेखक का कोई परिचय देना भी अनिवार्य-सा होता है। ताकि पता रहे वह कोई विषय का विद्वान है, या नेता, या अखबारी पत्रकार। ऐसा न करने से पाठक को सुनी-सुनाई और प्रामाणिक के बीच अंतर करने का मौका नहीं बचता, इस तरह वह चकमा खाता है। गंभीर विद्वानों से ऐसी आशा नहीं की जाती।

यह कुछ वैसी ही बात हुई, जैसे (कल्पना करें) कोई इतिहासकार अपनी पुस्तक में उद्धरण-चिह्न के अंतर्गत लिखे कि "एक बार गाँधीजी ने कस्तूरबा को जूते से पीटा था।" मगर, जब पाठक इस उद्धरण का स्रोत देखना चाहे, तो उसे मात्र इतना मिले: 'जॉन स्मिथ, ए बायोग्राफी ऑफ गाँधी, पेज 56.' बस। अब इससे कुछ पता नहीं चलता कि उस दूसरे लेखक, जॉन स्मिथ को वह जानकारी कहाँ से मिली। यदि उसे गाँधीजी के किसी पुत्र या सहयोगी ने अपनी प्रत्यक्षदर्शी घटना बताया हो तो एक बात होगी। किन्तु यदि स्मिथ ने भी वह किसी अब्राहम के लेख से, और उस अब्राहम ने भी किसी विलियम के उपन्यास जैसी पुस्तक या किसी नेता के भाषण या अखबारी टिप्पणी से ली हो... और इस तरह पूरी बात बिना किसी ठोस आधार के दिखे, तब मामला कुछ और हो जाएगा। किसी के मनगढ़ंत अनुमान या नशेड़ी की गप्प जैसी उक्तियों को भी इतिहास की अकादमिक पुस्तक में दे देना विद्वेषपूर्ण लेखन ही माना जाएगा।

वेंडी और उनके अनुयायी लेखकों ने राम-सीता, काली, गणेश, शिव, पार्वती, आदि को तथा पुराण, महाभारत के प्रसंगों अथवा हिन्दू पर्व-त्यौहारों को सेक्स-क्रियाओं, विकृतियों, हिंसा और विचित्रताओं से आरोपित करने में उनके स्थलों पर इसी तरह के स्रोत, सन्दर्भ दिए हैं। एक उदाहरण देखें। अपनी पुस्तक "द हिन्दूजः एन अल्टरनेटिव हिस्ट्री" के चौबीसवें अध्याय में वेंडी एक लंबा उद्धरण देती हैं :

एक रात जब सीता और राम साथ-साथ लेते हुए थे, सीता ने बड़े लगाव से लक्ष्मण की चर्चा की। उसने कहा, "वहाँ वह अकेला सो रहा है। कौन-सी चीज उसे औरत से अलग रखती है। वह शादी क्यों नहीं करना चाहता।" इस बात से राम के माथे में सन्देह पैदा हुआ। सीता मजे से सो गई, मगर राम पूरी रात इस मामले पर तरह-तरह की कल्पना करता हुआ जगा रह गया। सुबह सवेरे उसने लक्ष्मण को उसके एकांत महल से बुलवा भेजा और एकाएक पूछा,

“क्या तुम सीता से मुहब्बत करते हो।” लक्ष्मण को ऐसे सवाल की उम्मीद नहीं थी और वह अपने भाई की ओर आँख भी नहीं उठा सका। वह बड़ी देर तक धरती पर नजर गड़ा, शर्म से डूबा रहा। लक्ष्मण ने लकड़ियों इकट्ठा कर बड़ी-सी आग जलाई और चिल्लाया, “इन लकड़ियों में आग लगा दो और अगर मैं बेदाग और बेकसूर हूँ तो मैं नहीं जलूँगा।” वह अपनी बाँह में एक चीखते हुए बच्चे को लेकर आग पर चढ़ गया। दोनों में से किसी को आँच नहीं लगी। फिर उसने राम और सीता को वहीं छोड़ दिया और नहीं लौटा, हालाँकि सीता उसे फुसलाकर वापस करने की कोशिशें करती रही।⁹

इतना लंबा उद्धरण वेंडी ने इसी तरह अपने टेक्स्ट में अलग करके, प्रमुखता से रखा है। चूँकि उद्धरण है, यानी किसी और के लेखन से लिया है, अतः इसका स्रोत भी बताना था। तो अध्याय के एंडनोट में, वेंडी ने इस उद्धरण का स्रोत-सन्दर्भ देते हुए यह दिया है, ‘एल्विन, मिथ्स ऑफ मिडल इंडिया, 65-67’। बस, केवल इतना। अब पाठक सोचता रहे कि कौन है एल्विन, और कहाँ से दिया उसने वह विवरण। इस तरह के सन्दर्भ संदिग्ध होते हैं, क्योंकि उनकी प्रामाणिकता देखने-परखने का पाठक के पास शायद ही कोई उपाय रहता है। वह मजबूर किया जाता है कि वेंडी के चयन, प्रस्तुति और निष्कर्ष को चुपचाप मानकर चले। बल्कि कई जगहों पर तो वेंडी ने किसी सन्दर्भ के बिना भी चित्र-विचित्र व्याख्या या निष्कर्ष थोपने की कोशिशें की हैं।

इतिहास और राजनीति जैसे विषय में ऐसा लेखन अहंकारी के साथ-साथ प्रोपेगंडा मानसिकता दर्शाता है। यानी, तथ्यों या गल्पों का मनमाना चयन और कोरी घोषणाएँ। जैसे, वेंडी डोनीजर के अनुसार भारत में होली के त्यौहार पर एक-दूसरे पर लाल रंग डालना खून का संकेत है, जिसका उपयोग ‘संभवतः पिछली सदियों में किया जाता रहा होगा।’¹⁰ या, स्त्रियों के माथे पर कुमकुम-बिंदी लगाना भी ‘रजस्राव वाले रक्त’ का प्रतीक है। या, महाकाली की उग्र मुद्रा ‘शिश्न वाली देवी’ (‘गॉडेस विद ए पीनिस’)¹¹ की झलक है। अथवा, श्रीकृष्ण की बाँसुरी बजाती त्रिभंगी मुद्रा ‘समलैंगिक आकर्षण’ का आवाहन है। शिव अनुष्ठान-पूर्वक बलात्कार (‘रिचुअल रेप’) का देवता या, गणपति का मोदक-प्रेम उनके मुख-मैथुन प्रेमी होने और उनकी सूँड़ ‘शिथिल शिश्न’ का प्रतीक है। या, रामकृष्ण परमहंस काम-विकृति से ग्रस्त थे और उनका विवेकानन्द के प्रति समलैंगिक सेक्स-प्रेम था, आदि-आदि।

वेंडी डोनीजर की एक सहयोगी प्रोफेसर सेरा काल्डवेल के एक लेख का शीर्षक ही इस तरह की विचित्र विद्वता की पर्याप्त झलक देता है : ‘द ब्लडथर्स्टी टंग एंड द सेल्फ-फीडिंग ब्रेस्ट : होमोसेक्सुअल फेलासियो फैंटेसी इन ए साउथ इंडियन रिचुअल ट्रेडीशन’। यह देवी काली पर अकादमिक लेखन का शीर्षक है, जिसमें हिंसा, रक्त, रज, शिश्न, वीर्य, स्तन का दूध, मुख-मैथुन, गर्भ और गर्भवती पेट आदि सबको

मिला-जुलाकर कैसा कुत्सित मिश्रण बनाया गया है : यह बिना पढ़े अविश्वसनीय लगेगा कि कोई ऐसी कल्पनाएँ कर सकता है!¹²

ऐसी विचित्र व्याख्या रखने की जिद में वेंडी और उनके पढ़-शिष्यों ने कई प्रसंगों में संस्कृत शब्दों का भी मनमाना अर्थ किया है। ऐसे मनमाने अर्थ किए जाने को कई पश्चिमी संस्कृतज्ञों ने भी सरासर गलत माना है। हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध संस्कृत-वेत्ता माइकेल विल्जेल ने 18 श्लोकों वाले केवल एक संस्कृत गान के वेंडी द्वारा किए गए अंग्रेजी अनुवाद में 43 गलतियाँ बताई हैं।¹³ यह सदैव अज्ञानवश ही नहीं, जान-बूझकर की गई विकृति भी लगती है। विल्जेल ने वेंडी डोनीजर द्वारा किए गए ऋग्वेद के अनुवाद (पेंग्विन, 1981) को भी ‘पाराफ्रेजिंग’, यानी अपने अर्थ में प्रस्तुत किया गया बताया है, जो एक बड़ा गंभीर आरोप है। साथ ही, वेंडी के लेखन में क्रमवार वाक्यों में अर्थ-असंबद्धता (‘अनाकोलुथा’) भी है।¹⁴ इन सबसे दिखता है कि वेंडी में हिन्दू ग्रंथों में लिखी बातों को अपना मनमाना अर्थ देने की प्रवृत्ति बड़ी विकट और पुरानी है।

वेंडी के लेखन की सबसे बड़ी कमजोरी है अपने तयशुदा निष्कर्ष के अनुरूप सामग्री ढूँढ़ना, न कि सामग्री, लेखक, शोधकर्ता, आदि की प्रामाणिकता के आधार पर। उदाहरण के लिए, वेदों पर तीस साल से लिखते हुए भी, वेंडी की इस पुस्तक के अंत में दी गई आधार सामग्री सूची (बिब्लियोग्राफी) की सैकड़ों पुस्तकों, लेखों में श्रीअरविन्द के क्लासिक ग्रंथ ‘वेद रहस्य’ (सीक्रेट ऑफ वेदा) का नाम नहीं, न स्वामी विवेकानन्द की किसी रचना का। स्वामी दयानन्द सरस्वती का तो किसी रूप में उल्लेख तक नहीं है, जबकि शशि थरूर, कुमकुम राय, जैसे लेखकों की पुस्तकें उनकी सूची में हैं। यह साफ-साफ दिखाता है कि वेंडी डोनीजर का लेखन सामान्य किस्म के वर्तमान टिप्पणीकारों पर अधिक आधारित है। वह कोई मौलिक शोध नहीं है।

हर हाल में, वेंडी द्वारा स्वामी दयानन्द, विवेकानन्द, श्रीअरविन्द, जैसे महान समकालीन हिन्दू मनीषियों को गोल कर दिया जाना बड़ा महत्त्वपूर्ण तथ्य है। इससे दो ही अर्थ हो सकते हैं। एक, वेंडी को श्रीअरविन्द जैसे दुर्धर्ष आधुनिक मनीषी के महत्तम ग्रंथों की जानकारी नहीं। अथवा उन्होंने अपने पूर्व-निर्धारित, पसन्दीदा निष्कर्षों के अनुरूप मामूली लेखों, छिछोरी टिप्पणियों, वामपंथी प्रोपेगंडा, अखबारी कतरनों और लनतरानियाँ तक को अधिक उपयोगी समझा। इसीलिए दयानन्द, विवेकानन्द, श्रीअरविन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर, रायकृष्ण दास, रामस्वरूप, गोविन्दचंद्र पाण्डेय, जैसे अनेकानेक महान हिन्दू मनीषियों की टीकाओं, व्याख्याओं को नोटिस के लायक भी नहीं समझा, उसे पढ़ना, समझना तो दूर रहा। हिन्दू धर्म, संस्कृति और समाज का वृहत इतिहास लिखते हुए दयानन्द, विवेकानन्द, श्रीअरविन्द, जैसे दार्शनिकों की खुली उपेक्षा करने में यह घमंड भी है कि ‘हम तुम्हारे धर्म के बारे में तुमसे ज्यादा और सही जानते हैं।’

इन बातों, प्रवृत्तियों का अकादमिक अर्थ में अंतिम अर्थ यही निकलता है, कि वेंडी डोनीजर हिन्दू धर्म, संस्कृति की वैसी प्रामाणिक विद्वान नहीं, जैसा माना जाता रहा है। इसकी पुष्टि इससे भी होती है कि अपने लेखन की हर आलोचना को वे भारत के एक राजनीतिक दल के बट्टे-खाते में डालकर, मामले का राजनीतिकरण करके बच निकलती हैं। वे अपने आलोचकों को थोक-भाव में सड़क-छाप भीड़ ('दिस क्राउड', 'हिन्दुत्वा टाइप्स') जैसे नीच समझने के सिवाय और कुछ नहीं मानतीं।¹⁵ यह हू-ब-हू भारत के मार्क्सवादी लेखकों, प्रचारकों वाली शैली है जिसमें प्रतिष्ठित विद्वानों को भी 'सस्ती शोशेबाजी करने वाला पत्रकार' और 'कोई दुकानदार' जैसे अपमानजनक विशेषणों से डिसमिस किया जाता था, मानो, ऐसे तुच्छ, अनुपयुक्त लोगों की बात का जबाब क्या देना! उसी अंदाज में वेंडी भी संजीदा भारतीय आलोचकों को 'दिस क्राउड' या 'हिन्दुत्वा टाइप्स' जैसे अपमानजनक संकेत से देखती हैं। यानी, आलोचकों की बातों का जबाब देने के बजाय उन्हें ऐरे-गैरे बताकर नोटिस लायक ही न समझने का अंदाज रखना।

इससे यही प्रतीत होता है कि वेंडी डोनीजर के पास अपनी आलोचनाओं का कोई बौद्धिक उत्तर नहीं। इसीलिए, वे लांछन-तकनीक तथा अकादमिक पदों के अहंकार का बार-बार उपयोग करती हैं। अन्यथा प्रो. एस. ए. बालगंगाधर, कोएनराड एल्ट, राजीव मल्होत्रा, अदिति बनर्जी, आदि जैसे विद्वानों, लेखकों को किसी राजनीतिक दल का एजेंट जैसा समझने का संकेत शोभनीय नहीं कहा जा सकता। मतभेद रखने वाले विद्वानों को लांछित करना बौद्धिक दुर्बलता ही दिखाता है।

वेंडी डोनीजर के लेखन की एक अन्य बुनियादी दुर्बलता यह है कि उनकी मुख्य प्रेरणा अकादमिक, बौद्धिक नहीं बल्कि राजनीतिक प्रतीत होती है। यह स्वयं उनके ही शब्दों में कई स्थलों पर, कई प्रसंगों में स्पष्ट दिखता है। उदाहरण के लिए, 'द हिन्दूज : एन अल्टरनेटिव हिस्टरी' के प्रकाशन के समय अंग्रेजी साप्ताहिक आउटलुक (26 अक्टूबर, 2009) वाले साक्षात्कार में प्रश्नकर्ता शीला रेड्डी ने उनसे पूछा, "आप अपनी पुस्तक को 'एन अल्टरनेटिव हिस्टरी' क्यों कहती हैं।" इसके उत्तर में वेंडी का उत्तर था, "मैं भाजपा वाले इतिहास पाठ की तुलना में एक वैकल्पिक इतिहास का पाठ भी दिखाना चाहती थी वह पाठ जिसमें कहा जाता है कि बाबर वाली मस्जिद किसी राम मंदिर जैसी चीज के ऊपर बना था या बंदरों ने श्रीलंका तक पुल बनाया था।"¹⁶

यह उसी मानसिकता का दुहराव है जो यहाँ मार्क्सवादी इतिहासकारों में रहा है। वे भी अपने नए इतिहास-लेखन का सारा दावा 'शोषितों की दृष्टि से इतिहास लिखने', तथा 'हिन्दू सांप्रदायिकता वाले पाठ' के विपरीत कोई 'सेक्यूलर, प्रगतिशील' पाठ लिखने का दावा करते थे। चाहे वास्तव में उन्होंने भी पहले से जाने हुए तथ्यों की तोड़-मरोड़ करने के सिवाय शायद ही कुछ नई जानकारी पाने का प्रयत्न किया। उनमें

भी राजनीति प्रधान थी, वेंडी में भी है। सत्य, तथ्य, प्रमाण की चिंता, या दावा भी, मार्क्सवादी भी नहीं करते थे। 'इंरस्पेक्टिव ऑफ एविडेंस', उन्हें अयोध्या विवाद पर एक पक्षपाती, राजनीतिक प्रचार करना ही था। वेंडी भी उसी तरह ब्राह्मणों और भाजपा के विपरीत 'वैकल्पिक' इतिहास लिखने का ध्येय रखती रही हैं।

किन्तु समस्या यह है कि भारतीय दृष्टि से लिखे सारे इतिहास को, जो वेंडी को पसन्द नहीं, उन सबको 'भाजपा वाला इतिहास पाठ' कहना न केवल निराधार, बल्कि क्षुद्र गाली-गलौज है। यह भी मार्क्सवादी तकनीक से मिलती है, जिसमें मत-वैभिन्य रखने वाले हरेक लेखक को सदैव 'अमेरिकी एजेंट' या 'पूँजीपतियों का दलाल' कहा जाता था। कोई स्वतन्त्र लेखक, इतिहासकार, विचारक भी होता है, इसे मार्क्सवादी सिरे से टुकरोते हैं। उनके लिए सभी नापसन्द इतिहास-लेखक केवल 'हिन्दू सांप्रदायिक' होता है, उसी तरह वेंडी के लिए हिन्दुओं का वह सारा इतिहास जो सहज भारतीय दृष्टि से लिखा गया है, वह 'भाजपा वाला इतिहास पाठ' है। मानो सुग्रीव की वानरी-सेना ने लंका तक पुल बनाया, ऐसा लिखते हुए वाल्मीकि, तुलसीदास और कम्बन वस्तुतः भाजपा के लिए लिख रहे थे! यदि वेंडी का मतलब यह नहीं, तो क्या भाजपा ने कोई हिन्दुओं के इतिहास की पुस्तक प्रकाशित की है जिसका वैकल्पिक पाठ करना वेंडी को जरूरी लगा!

अकादमिक, बौद्धिक की बजाय राजनीतिक अधीरता वेंडी के वक्तव्यों में ही नहीं, लेखन में भी जहाँ-तहाँ स्वतः दिखती रहती है। वे बार-बार, अकारण, और प्रसंगहीन छीछालेदर पर उतरती रहती हैं। चाहे घोषित विषय, अध्याय या शीर्षक कुछ भी हो। यह मानसिकता कुछ भी लिखते हुए किसी बिन्दु-विशेष की व्याख्या अथवा कोई नया तथ्य या पहलू रखने की बजाय सदैव किसी प्रत्यक्ष या अदृश्य राजनीतिक निशाने को साधती रहती है। यह प्रवृत्ति भी वामपंथी लेखकों से मिलती-जुलती है। किसी भी विषय, बिन्दु पर लिखते, बोलते उनकी मानसिकता में बुर्जुआ/अमेरिका पर लांछन और कम्युनिज्म/सोवियत संघ की प्रशंसा करने की प्रवृत्ति अनायास छलकती, झलकती रहती रही है। उसी तरह की छलक, झलक वेंडी डोनीजर के लेखन में भी है। उनका लेखन हिन्दू धर्म, संस्कृति और समाज को हीन, धूर्त और गया-गुजरा दिखाने की प्रेरणा से सराबोर लगता है।

वेंडी के लेखन को उनके विचारों से मिलाकर जितना भी पढ़ें, यह किसी-न-किसी रूप में बार-बार दिखता है कि उनमें विद्वता से अधिक राजनीतिक प्रेरणा है। इसीलिए वे खिल्ली उड़ाते अंदाज में हिन्दू शास्त्रों, ग्रंथों का जबरन फ्रॉयडीय पाठ करती हैं, जहाँ हर चीज के मूल में सेक्स-इच्छा, सेक्स-विकृति या ऐसी फंतासी है।

अंततः एक और बिन्दु विचारणीय है। वेंडी डोनीजर हिन्दू धर्म, इतिहास और देवी-देवताओं पर अपने लेखन को मनोविश्लेषण ('साइको-अनालिटिकल') बताती हैं। पर पहले तो उन्होंने मनोविश्लेषण का कोई व्यवस्थित प्रशिक्षण नहीं लिया है। यह

उन्होंने राजीव मल्होत्रा द्वारा पूछने पर स्वीकार भी किया है। दूसरे, दिवंगत व्यक्तियों (जैसे रामकृष्ण, विवेकानन्द) के मनोविश्लेषण नहीं किए जा सकते, यह स्वयं मनोविश्लेषक कहते हैं। तीसरे, देवी-देवताओं और प्राचीन शास्त्रों, ग्रंथों का भी 'मनोविश्लेषण' नहीं होता। वैसा करने का दावा ही बचकाना, हास्यास्पद है। चौथे, इसी तरह का कथित मनोविश्लेषण वेंडी डोनीजर और उनके शिष्यों ने ईसाइयत, और इस्लाम के ग्रंथों, विभूतियों का कभी नहीं किया है। जबकि वे 'धर्म-अध्ययन विभाग' से जुड़े हैं, यानी जिसमें सभी धर्मों पर शोध, अध्ययन आदि होता है। पाँचवें, जब स्वयं वेंडी और उनके सहयोगियों की उसी तर्ज पर 'मनोविश्लेषणात्मक' समीक्षाएँ की गईं, तो इसे उन्होंने अनुचित और शरारतपूर्ण कहकर बुरा माना। जैसे, यह समीक्षा कि ऐसे लेखकों के अपने अल्पज्ञान, जीवन-अनुभवों, काम्प्लेक्सों और फैंटेसियों का प्रभाव उनके द्वारा लिखी गई पुस्तकों में है। जबकि वैज्ञानिक मनोविश्लेषण के आवश्यक पूर्वाधारों की कसौटी पर यह समीक्षा अधिक खरी उतरती है। क्योंकि लेखक, लेखिकाएँ प्रत्यक्ष मौजूद हैं। किंतु दूसरों का, दिवंगत महापुरुषों, यहाँ तक कि शिव, काली, गणेश, पार्वती, कृष्ण जैसे देवी-देवताओं का 'मनोविश्लेषण' कर देने का अहंकार रखने वाले स्वयं अपने मनोविश्लेषण पर नाराज होने लगते हैं। यह तो स्पष्ट अंतर्विरोध और हल्कापन, दोनों ही है।

इसीलिए, वेंडी डोनीजर द्वारा लिखा हुआ हिन्दू इतिहास तथा हिन्दू धर्म, दर्शन, परम्परा, आदि पर उनकी विशाल सामग्री की मूल्यवत्ता संदिग्ध है। केवल प्रसिद्धि और बड़ी संस्थाओं, पदों के बल पर उन्हें प्रामाणिक मानना भूल होगी। हमारे सामने 'सोवियत अकादमी ऑफ सोशल साइंसेज' के सैकड़ों सर्वोच्च अकादमीशिनो का उदाहरण है, जिन्हें उसी बल पर दशकों तक बड़ा विद्वान माना जाता रहा था। जबकि वे मुख्यतः बने-बनाए निष्कर्ष दुहराने वाले पार्टी-प्रचारक मात्र ही थे। वेंडी डोनीजर के वक्तव्य हमें उन्हीं विद्वानों की याद दिलाते हैं।

संदर्भ

1. वेंडी डोनीजर, *ह्वेन ए लिंगम इज जस्ट ए गुड सिगार*, जेफ्री कृपाल एवं टी.जी. वैद्यनाथन (सं.) विष्णु ऑन फ्रायड्स डेस्क (नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1999), पृ. 279. कृष्णन रामास्वामी एवं अन्य (सं.) इनवेडिंग द सीक्रेड (नई दिल्ली: रूपा एंड कं., 2007) में उद्धृत, पृ. 485
2. वेंडी डोनीजर ओ'फ्लाहार्टी, सं. और अनुवादित, *टेक्सचुअल सोर्सेज फॉर द स्टडी ऑफ हिन्दुइज्म* (मैनचेस्टर: मैनचेस्टर यूनिवर्सिटी प्रेस, 1988), पृ. 15.17, 103-06
3. शीला रेड्डी द्वारा वेंडी डोनीजर का इंटरव्यू, आउटलुक (अंग्रेजी साप्ताहिक), नई दिल्ली, 26 अक्टूबर 2009

4. वही
5. वही
6. यह वेंडी के निर्देशन में पीएच.डी. प्राप्त पॉल कोर्टराइट की पुस्तक *गणेशा: लॉर्ड ऑफ ऑक्सटेकल्स, लॉर्ड ऑफ बिगिनिंग्स* (न्यू यॉर्क: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1985), पृ. 121 में है। कृष्णन रामास्वामी एवं अन्य (सं.) इनवेडिंग द सीक्रेड (नई दिल्ली: रूपा एंड कं., 2007) में उद्धृत, पृ. 53. कोर्टराइट की यह प्रसिद्ध, पुरस्कृत पुस्तक गणेश को समलैंगिक, हिजड़ा, मुख-मैथुन प्रेमी और मातृ-आसक्ति समेत विविध काम-विकृतियों से ग्रस्त बताती है।
7. वेंडी डोनीजर ओ'फ्लाहार्टी, सं. और अनुवादित, *टेक्सचुअल सोर्सेज फॉर द स्टडी ऑफ हिन्दुइज्म* (मैनचेस्टर: मैनचेस्टर यूनिवर्सिटी प्रेस, 1988), पृ. गप
8. वेंडी डोनीजर, *द हिन्दूज: एन अल्टरनेटिव हिस्ट्री* (नई दिल्ली: पेंग्विन वाइकिंग, 2009), पृ. 929.79
9. वही, पृ. 669-70
10. माइक्रोसॉफ्ट एनकार्टा पर 'हिन्दुइज्म' पर वेंडी डोनीजर की प्रस्तुति से। अदिति बैनर्जी, द्वारा 'ओह, बट यू टू गेट इट रॉग!', आउटलुक (अंग्रेजी साप्ताहिक), नई दिल्ली, 28 अक्टूबर 2009, इंटरनेट संस्करण
11. सेरा काल्डवेल, *द ब्लडथर्सटी टंग एंड द सेल्फ-फीडिंग ब्रेस्ट: होमोसेक्सुअल फेलासियो फैंटेसी इन ए साउथ इंडियन रिचुअल ट्रेडिशन*, जेफ्री कृपाल एवं टी.जी.वैद्यनाथन (सं.), विष्णु ऑन फ्रायड्स डेस्क (नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1999), पृ. 343. कृष्णन रामास्वामी एवं अन्य (सं.) इनवेडिंग द सीक्रेड (नई दिल्ली: रूपा एंड कं., 2007) में उद्धृत, पृ. 42-43
12. यह सब शिकागो विश्वविद्यालय के विश्व-प्रसिद्ध धर्म-अध्ययन विभाग में पढाया जाता है। जिनके आधार पर अमेरिका में बच्चों, युवाओं के लिए टेक्सट-बुक लिखी जाती है। जिस से अबोध अमेरिकी बच्चे, और युवा, हिन्दू धर्म और भारत के बारे में अपनी धारणाएँ बनाते हैं। वही लोग आगे अमेरिकी नीति-निर्माता बनते हैं, जो अमेरिका-भारत संबंध तय करने में भी भागीदारी निभाते हैं। वेंडी डोनीजर और उनके विद्वत् संप्रदाय की ऐसी इंडोलॉजी का भारत, और विश्व के लिए भी कितना महत्व है, इस बिन्दु को भी प्रस्तुत प्रसंग में समझने की कोशिश करनी चाहिए।
13. *चौलेंज टु वेंडी डोनीजर्स संस्कृत*, कृष्णन रामास्वामी एवं अन्य (सं.) इनवेडिंग द सीक्रेड (नई दिल्ली: रूपा एंड कं., 2007) में उद्धृत, पृ. 67
14. वही
15. शीला रेड्डी द्वारा वेंडी डोनीजर का इंटरव्यू, आउटलुक (अंग्रेजी साप्ताहिक), नई दिल्ली, 26 अक्टूबर 2009
16. वही

आत्मसृजन के आयाम

नन्द किशोर आचार्य*

स्वातंत्र्य युग का हिन्दी साहित्य इस शीर्षक में स्वातंत्र्य केंद्रीय पद है क्योंकि उसे ही प्रस्थान-बिंदु के रूप में देखा गया है। लेकिन, क्या स्वातंत्र्य एक राजनीतिक घटना मात्र है चाहे कितनी भी महत्त्वपूर्ण घटना अथवा वह एक अनुभव है, एक अनुभूति है! सच तो यह है कि स्वातंत्र्य की माँग और उसके लिए संघर्ष की प्रक्रिया में भी एक स्वतन्त्र चेतना अपने होने के अनुभव करने लगती है चाहे स्वतन्त्रता पर हो रहे आघातों-दबावों और उनके प्रतिरोध की आकांक्षा तथा प्रयत्नों के रूप में सही। इसलिए यह देखना अप्रासंगिक नहीं माना जाना चाहिए कि इस स्वातंत्र्य-संघर्ष के दौर में साहित्य ने एक मूल्य के रूप में स्वतन्त्रता को किस तरह समझा। राजनीतिक स्वतन्त्रता की उपलब्धि के पश्चात् भी चुनौतियाँ मूलतः वही रहीं, यद्यपि उनके राजनीतिक सन्दर्भ जरूर कुछ नए रूपों में दिखाई दिए।

इस सन्दर्भ में एक और सवाल भी विचारणीय है। यह ठीक है कि साहित्य का एक सामाजिक परिवेश होता है तथा साहित्य और समाज के बीच निरंतर अंतःक्रिया संभव होती रहती है, लेकिन जब सामाजिक चुनौतियाँ साहित्य में रूपांतरित होती हैं तो क्या उनका रूप वही रहता है जो उनके सामाजिक स्वरूप में होता है? क्या साहित्य या कला एक प्रकार का संवेदनात्मक समाजशास्त्र मात्र है या उसकी रचनाशीलता में समय और समाज तत्वांतरित होकर एक नए रूप में प्रस्तुत होते हैं। उन्हें केवल समाजशास्त्रीय स्तर पर नहीं समझा जा सकता यद्यपि हिन्दी आलोचना विभिन्न प्रकार के दबावों के चलते साहित्य और कला को अधिकांशतः समाजशास्त्रीय कोटियों (Categories) में ही समझने-समझाने का उद्यम करती रही है। साहित्यिक रचनाशीलता अपने उपक्रम में स्वतन्त्रता को किस तरह ग्रहण करती है, हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में क्या यह देखना अधिक मौजू नहीं होगा?

*नन्द किशोर आचार्य, सुधारों की बड़ी गुवाड़, बीकानेर - 334005

इतिहास अथवा समय के साथ कविता के रिश्ते को कहें कि साहित्य या कला के रिश्ते को व्याख्यायित करते हुए आक्टोवियो पाज ने ठीक ही कहा है कि अपनी रचनाशीलता में कविता इतिहास की सेवा में प्रस्तुत नहीं होती बल्कि वह उसका तत्वांतरण कर देती है। समय या इतिहास के बिना कविता सम्भव नहीं है, लेकिन इतिहास का तत्वांतरण ही कविता का लक्ष्य है।” यदि केवल समय ही साहित्य का निर्धारक होता तो समय के परिवर्तन के साथ उस दौर में रचे गए साहित्य का महत्त्व और सार्थकता ही समाप्त हो गई होती। प्रेमचंद शताब्दी वर्ष में उनकी प्रासंगिकता को लेकर किए गए विचार-विमर्श में अधिकांशतः यही तर्क दिया जाता रहा कि प्रेमचंद आज भी इसलिए प्रासंगिक हैं क्योंकि जिन समस्याओं को लेकर वह चिंतित थे, वे आज भी नहीं बदली हैं। इस पर कुछ क्षुब्ध-से होकर निर्मल वर्मा ने लिखा कि यह तो हमारा दुर्भाग्य है कि हम उन समस्याओं से निजात नहीं पा सके; लेकिन, हम यदि उन समस्याओं से मुक्त हो गए होते तो क्या प्रेमचंद हमारे लिए अप्रासंगिक हो गए होते!

प्रेमचंद के इस जिक्र से मुझे स्मरण हो आया कि स्वयं प्रेमचंद साहित्य और स्वतन्त्रता से जिसे वह स्वराज कहते हैं क्या आशय ग्रहण करते हैं, यह भी देख लिया जाना चाहिए। बनारसीदास चतुर्वेदी को जून 1930 में एक पत्र में वह लिखते हैं, “इस समय तो सबसे बड़ी आकांक्षा यही है कि हम स्वराज्य-संग्राम में विजयी हों। धन या यश की लालसा मुझे नहीं रही...हाँ, यह जरूर चाहता हूँ कि दो-चार उच्च कोटि की पुस्तकें लिखूँ, पर उनका उद्देश्य भी स्वराज्य-विजय ही हो।” स्पष्ट है कि यहाँ प्रेमचंद के लिए साहित्य का प्रयोजन स्वराज्य प्राप्ति है, जो दिखने में एक सामयिक माँग है। लेकिन, यह भी देखना होगा कि स्वराज्य का प्रयोजन क्या है। इस मुद्दे पर अपना मत व्यक्त कराते हुए वह अपने प्रसिद्ध निबन्ध ‘स्वराज्य के फ़ायदे’ में कहते हैं कि ‘स्वराज्य पा कर हम अपनी आत्मा को पा जाएँगे।’ अपने आत्म को पाना लेखक के लिए वही समय से अपने रिश्ते का है। और यह प्रयोजन समय की स्थूल सेवा में रहकर नहीं, बल्कि भाषा में उसके तत्वांतरण की प्रक्रिया द्वारा ही संभव होता है।

साहित्य भाषा की अंतर्निहित सर्जनात्मकता का रूपायन है। क्या इस कथन का इस बात से कोई मौलिक विरोध है कि साहित्य या कोई भी कला अपने समय का संवेदनात्मक अन्वेषण होती है? दुर्भाग्य से हमारे यहाँ एक ऐसा वातावरण बना दिया गया है कि जब भाषा या शब्द की अंतर्निहित संभावनाओं की बात होती है तो उसे कलावाद, रूपवाद, शैलीवाद आदि कहकर खारिज करने की कोशिश की जाती रही है और दूसरी ओर, कला या साहित्य के परिवेश, समय और समाज से संबंध का आग्रह होते ही उसे साहित्य की स्वायत्तता का निषेध तथा किसी दर्शन-विशेष या विचारधारा और कभी तो दल तक का उपनिवेश बनाना मान लिया जाता है। लेकिन, शुभ यह है कि साहित्यालोचन के क्षेत्र में इस बहस के केंद्र में दिखाई देते हुए भी हिन्दी साहित्य

की रचनाशीलता का इतिहास न तो रूपवाद को प्रश्रय देता जान पड़ता है और न ही वह किसी विचारधारा और विचारधारा ही क्यों इतिहास की सेवा में खड़ा दिखायी देता है। यह वह रचनाशीलता है जो समय और इतिहास द्वारा प्रस्तुत चुनौतियों को स्वीकार करती, उनमें से गुजरती हुई भी अपनी स्वायत्तता को बनाए रखती है। स्वतंत्र्य-संघर्ष और राजनीतिक स्वतन्त्रता की उपलब्धि के बाद के दौर में भी वह समय द्वारा अपने और अपने माध्यम भाषा के सम्मुख प्रस्तुत चुनौतियों की पहचान करती और पहचानने की इस प्रक्रिया में अपने सर्जनात्मक रूपांतरण के माध्यम से उन चुनौतियों का प्रत्युत्तर हो जाती है जितना या जैसा साहित्य हो सकता है। प्रत्येक चुनौती एक सर्जनात्मक संभावना होती है आधुनिक हिन्दी रचनाशीलता ने इस बात के मर्म को ठीक तरह से समझा और रूपायित किया है और ऐसा करते हुए उसने किसी का भी उपनिवेश होने का सार्थक प्रतिरोध करते हुए अपनी स्वायत्त प्रक्रिया को ही संपोषित किया तथा इस बात को सिद्ध किया है कि भाषा की अंतर्निहित सर्जनात्मक संभावनाओं के रूपायन और समय के संवेदनात्मक अन्वेषण में न केवल कोई आत्यंतिक विरोध नहीं है, बल्कि वस्तुतः दोनों की प्रक्रिया मूलतः एक ही है यदि हम साहित्य या कला को भी समय के संवेदनात्मक साक्षात्कार का एक स्वायत्त वैध माध्यम या प्रक्रिया मानते हों और ऐसा मानना ही होगा। क्योंकि इसके बिना साहित्य या कला को मानवीय सर्जनात्मक कहने का अर्थ ही क्या रह जाएगा!

क्या यह अनुचित स्थापना है कि खड़ी बोली पर आधारित हिन्दी के उत्थान को आधुनिक भारतीय राष्ट्रीयता और स्वातंत्र्य-संघर्ष के उदय के साथ रखकर देखा जाता है। भाषा यदि संस्कृति-रूप है तो इतिहास द्वारा संस्कृति के सम्मुख प्रस्तुत चुनौती का सर्जनात्मक सामना करने की प्रक्रिया ही हिन्दी भाषा और साहित्य के नए रूपों के उत्थान का कारण बनी। दूसरे शब्दों में, आधुनिक हिन्दी का विकास संस्कृति के सम्मुख उत्पन्न नई परिस्थिति के अहसास और उससे सर्जनात्मक स्तर पर निपटने की स्वायत्त सांस्कृतिक प्रक्रिया का भाषिक आयाम था। विदेशी शासन और उसके परिणामस्वरूप औपनिवेशिक मानसिकता की चुनौती साहित्य और संस्कृति को अपने उस आत्म की तलाश के लिए प्रेरित करती थी, जिसका ज़िक्र प्रेमचंद ने किया है। इस तलाश का रास्ता अपने अस्तित्व के, अपने आत्म के संवेदनात्मक अन्वेषण से गुज़रता है अन्यथा अपने को राजनीतिक दृष्टि से ताकतवर बनाने का एक सीधा उपाय तो परिश्रम का अंधानुकरण था ही, जैसा जापान ने किया, और एक वर्ग उस रास्ते पर चलना चाह भी रहा है।

दरअसल, जब हम साहित्य को भाषा का सर्जनात्मक रूपायन कहते हैं तो उस में समाज के रूपायन का आग्रह तो स्वयमेव ही सम्मिलित होता है। भाषा यदि एक समाज की, संस्कृति की अभिव्यक्ति है तो उसमें समाज का संवेदनात्मक अन्वेषण और सर्जन संभव होते ही हैं। संस्कृति का मूल तात्पर्य है आत्म का अन्वेषण और क्योंकि

वह जड़ नहीं, एक गत्यात्मक प्रक्रिया है, इसलिए यह आत्मान्वेषण निरंतर, आत्मसर्जन का रूप ले लेता है। साहित्य मूलतः अनुभूति रूप होता है, इसलिए उसका माध्यम भाषा केवल अनुभूति की अभिव्यक्ति नहीं, स्वयं अनुभूति-रूप हो जाती है। इस दृष्टि से देखें तो भाषा अपने में एक चेतना, एक आत्म हो जाती है, जो निरंतर आत्म-सर्जन में रहते है। 'साहित्य' पद की कई व्याख्याएँ भी जाती रही हैं, लेकिन, एक रचनाकार के लिए तो भाषा और आत्म के सहित होने, भाषा के रचे जाने में आत्म के रचे जाने के भाव से ही साहित्य संभव होता है। वाक् और आत्म के संयोग की यह चरम अनुभूति ही साहित्य है। नई भाषा की खोज वस्तुतः नए यथार्थ की, नए मानव-संबंधों की और कुछ अधिक गहरे जाकर देखें तो स्वयं भाषा से एक नए संबंध की खोज हो जाती है। आत्म के नए रूप का ज्ञान एक नए देशकाल का ज्ञान भी है और एक अर्थ में देशकाल से गुज़रते हुए उसके आतिक्रमण की अनुभूति भी। भाषा वह आँख है जिस से साहित्य देखता है अज्ञेय ने भी कहीं छंद को कविता की आँख कहा है केवल नए दृश्य को नहीं, अपने नए तरह से देख रहे होने को भी देखता है और इसी अर्थ में वह अपने आत्म का नवान्वेषण और नवरूपायन हो जाता है न केवल वैयक्तिक या व्यष्टि आत्म का, बल्कि भाषा के माध्यम से पूरे सामाजिक आत्म का।

इस पृष्ठभूमि में स्वातंत्र्य युग की हिन्दी रचनाशीलता के सम्मुख प्रस्तुत चुनौतियों पर विचार करने पर बदलते सन्दर्भों में इस आत्म की संवेदनात्मक तलाश और नवरूपायन की पद्धति की खोज ही वह केंद्रीय समस्या है, जिससे समकालीन रचनात्मकता रू-ब-रू होती रही है और जाहिर है कि इस प्रक्रिया में वह आत्म की तलाश के रास्ते में आ रही बाधाओं को पहचानती और उनसे उलझती हुई अपना नया रास्ता बनाने की कोशिश करती रही है कभी समकालीन जीवन और परिवेश के सीधे चित्रण के माध्यम से तो कभी केवल मूल्य-संवेदन के सांकेतिक रूप में। लेकिन, हर नया यथार्थ एक नई भाषा अर्थात् देखने के नए ढंग की माँग करता है या यों भी कह सकते हैं कि देखने का हर नया ढंग एक नए यथार्थ-रूप को उद्घाटित करता है। सामान्यतया हम जिन्हें केवल रूप या शिल्प अथवा भाषिक प्रयोग कहकर संतुष्ट हो जाते हैं वे, दरअसल, देखने के, अनुभव करने के नए ढंग का रूपायन होते हैं इन्हीं अर्थों में रूप या भाषा साहित्य की आँख हो पाते हैं जिनके अभाव में यथार्थ के नए स्तरों के अन्वेषण की, और दूसरी तरह से कहें तो, आत्म के नवसर्जन की संभावना नहीं बनती। दरअसल, रूप या फार्म की तलाश लेखक की इसी आकांक्षा और संघर्ष में से उपजती है और इस अर्थ में, निर्मल वर्मा के शब्दों में कहें तो, "कला में नए फार्म की खोज गहनतम स्तर पर एक नैतिक विवशता से जन्म लेती है।" यह शोचनीय है कि हिन्दी आलोचना में इस बात पर पर्याप्त विचार नहीं हो सका है कि नए फार्म की तलाश से ही आत्म के किसी नए रूपायन, यथार्थ के किसी नए स्तर का उद्घाटन कैसे संभव हो पाया है। क्या कविता में अज्ञेय, मुक्ति बोध, शमशेर, रघुवीर सहाय, श्रीकांत

वर्मा, साही और बाद के कवि भी अपने तई नए फार्म की, अपने-अपने ढंग की नई काव्य-भाषा की तलाश नहीं करते रहे हैं। सभी के लिए स्थूल रूप में तो समकालीन यथार्थ एक ही है, लेकिन फार्म की तलाश की अपनी बेचेनी के चलते ही वे उसी यथार्थ और उससे अंतःक्रिया करते आत्म के नए रूपों का सृजन कर सके हैं। कथा के क्षेत्र में 'गोदान' के फार्म का अतिक्रमण किए बिना क्या 'शेखर : एक जीवनी' में व्यंजित आत्म को समझा जा सकता था? रेणु के 'मैला आँचल' या 'परती परिकथा' की कल्पना भी क्या किसी दूसरे फार्म में की जा सकती है? हाल के वर्षों में कृष्णबलदेव वैद के 'काला कोलाज' और 'माया लोक', विनोद कुमार शुक्ल के 'दीवार में खिड़की रहती थी', मनोहरश्याम जोशी का 'कुरु-कुरु स्वाहा', भारती का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' से लेकर अलका सरावगी के उपन्यासों, प्रभात त्रिपाठी के 'अनात्मकथा' और उदय प्रकाश तक के कथा-प्रयोग क्या केवल सतही और दिखाऊ प्रयोगधर्मिता है या यथार्थ के उन नए स्तरों और नए आत्म-सृजन की तलाश के उल्लेखनीय रचनात्मक प्रयास हैं, जिसके बिना इन कृतियों में अंतर्निहित सत्य का संवेदनात्मक अन्वेषण और संप्रेषण संभव ही नहीं था। नाटक के क्षेत्र में भी 'आषाढ़ का एक दिन' जैसे नाटक की रचना करने वाले मोहन राकेश जैसे लेखक को क्यों 'आधे-अधूरे' जैसा प्रयोग करना पड़ा। भुवनेश्वर के नाटकों और एब्सर्ड नाटकों की रचना क्या केवल चौंकाने के उद्देश्य से की गई है अथवा उनके माध्यम से हमारे समकालीन यथार्थ का कुछ ऐसा रूप व्यंजित हो पाता है जो अन्य प्रकार से नहीं हो सकता था। इसलिए फार्म और आत्म की तलाश के जटिल रिश्तों के अंतःसूत्रों की सम्यक् पहचान स्वातंत्र्य युग की हमारी रचनाशीलता को समझ के लिए अत्यंत आवश्यक है और यह तभी संभव है जब हम किसी कृति को एक निश्चित वैचारिक सूत्र में *रिड्यूस* का देने के अपने आलोचनात्मक पूर्वग्रह से मुक्त हो सकें।

स्वातंत्र्य युग के प्रारंभिक वर्षों में मार्क्सवादी विचार-पद्धति से प्रभावित साहित्यिक आंदोलनों और हाल के वर्षों में सब-आल्टर्न विमर्श से प्रभावित दलित-विमर्श, नारीवादी विमर्श तथा आदिवासी विमर्श से संबंधित कृतियों को भी मैं एक सामाजिक आत्म की रचना के रास्ते में आ रही बाधाओं की संवेदनात्मक पहचान के रूप में ही देखता हूँ। यह ठीक है कि ये कृतियाँ यथार्थ के उन स्तरों और आयामों के प्रति हमें संवेदित करती हैं, जिनकी ओर पूर्व के लेखकों का पर्याप्त ध्यान नहीं गया था। लेकिन, इनकी रचना का प्रयोजन इन स्थितियों से हमें परिचित करवाना मात्र नहीं यह काम तो समाजशास्त्रीय अध्ययनों से भी हो सकता था, जिनसे एक हद तक ये कृतियाँ स्वयं प्रभावित हैं बल्कि उन स्थितियों का ऐसा चित्रण करना है, जो पाठक के संवेदनात्मक आत्म का नवरूपायन कर सके निर्मल वर्मा की शब्दावली में कहें तो 'विभाजित आत्म' को 'संलग्नता के सर्वव्यापी बोध' तक ले जा सके।

प्रसिद्ध मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्री जार्ज लुकाच ने कहीं लिखा है कि सामाजिक दबाव भी साहित्य में नन्दतिक या सौंदर्यशास्त्रीय प्रतिफलन के रूप में ही प्रकट होते

हैं। साहित्य मूलतः और अंततः भी एक भाषिक निर्मिति है और जैसा आक्तोवियो पाज ने कहा है, भाषा इतिहास और समाज का सार-तत्त्व है। उनका यह कथन बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि एक रचनाकार के लिए और इस तर्क से उसके ग्रीहिता के लिए भी जब तक इतिहास और समाज काव्य-भाषा नहीं बनाते, तब तक उनसे उसका कोई सर्जनात्मक रिश्ता नहीं बन पाता। हम बहुत से साहित्यिक ग्रंथों का महत्त्व इसमें मानने लगते हैं कि उसमें वस्तुगत विवरण कितना सटीक और खरा है। जैनेंद्र 'यदि गोदान में लिखता' निबंध में एक बहुत महत्त्वपूर्ण सवाल उठाते हैं कि साहित्य का लक्ष्य वस्तु-बोध देना है या आत्मप्रकाश। जाहिर है कि एक सर्जक का रुख आत्मप्रकाश की ओर होगा, क्योंकि यदि यह वस्तुगतता हमें किसी भावजगत में प्रवेश नहीं करवाती या हमारी चेतना में, हमारे आत्म में किसी भाव का उद्रेक नहीं करती तब तक यह विवरण भाषा में होते हुए भी रचनात्मक साहित्य नहीं बनता चाहे वह कितना ही सटीक और खरा हो। लेकिन, यदि एक काल्पनिक विवरण भी हम में भावोद्रेक करता है तो वह विवरण काव्य की हैसियत प्राप्त कर लेता है। भावोद्रेक का तात्पर्य है किसी भाव या भाव-संकुल की अनुभूति के माध्यम से अपने आत्म के विस्तार की अनुभूति। रसानुभूति में भी तो सभी विभाव-भाव आदि ग्रथत होकर एक रसदशा में घुल जाते हैं। वही तो आत्मप्रकाश है। यह अनुभूति जितनी गहरी और व्यापक होती है, उसी हद तक इतिहास और समाज रचना-भाषा बनते जाते और अपने स्थूल विवरणत्व की कारा से मुक्त होते जाते हैं। इतिहास और समाज के काव्य-भाषा होने का असल तात्पर्य, इसलिए, स्थूल विवरणत्मकता के भीतर निहित सनातन मनुष्यत्व का, उसकी संभावनाओं का वह साक्षात्कार है जो उसे आत्मसृजन की ओर प्रेरित करता है। यही वह चीज़ है जिसे हम भाषा में अपने को, अपने वास्तविक सृजनात्मक स्वरूप को, अपने आत्म को जानना कहते हैं उस आत्म को जो इतिहास-संभव तो है पर इतिहास बाधित नहीं वह सनातनता जो काल में व्यंजित तो होती है, पर काल-कीलित नहीं। इसे जानने और भाषा में अनुभूत और संप्रेषित करने की प्रक्रिया ही समय या इतिहास के काव्य-भाषा होने की प्रक्रिया है। यह काल के माध्यम से काल के पार जाना है राबर्टो हुआरोज के शब्दों में कहें तो 'भाषा के तल में अस्तित्व का विस्फोट' होना है।

स्वातंत्र्य युग की रचनाशीलता किस हद तक इस आयाम का ग्रहण कर पाई है, यह समझना तभी मुमकिन हो सकता है जब हम आत्म को एकायामी और सरल विवरणों में देखने के पूर्व निर्धारित आग्रह से मुक्त होने का प्रयास करते हुए उसके जटिल और संश्लिष्ट अज्ञात में प्रवेश के साहित्य के अपने रास्ते पर अर्कपित विश्वास जुटा सकें।

चुरु बालिका महाविद्यालय में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में दिए गए वक्तव्य का लिखित रूप।

पत्नी

(मेरी पत्नी उसके बहाने आज पत्नी)

शंकर पुणताम्बेकर*

आदमी परिवार में पैदा होता है और परिवार पैदा करता है। यही है आदमी की जिन्दगी और यही नहीं है आदमी की जिन्दगी। परिवार को छोड़कर भी जिन्दगी है जो परिवार को छोड़कर सम्भव नहीं है। परिवार बड़ी अजीब रचना है...व्यूह। इसमें उलझे नहीं तो बड़ी उलझी-उलझी रहती है जिन्दगी। इसमें उलझे तो भी बड़ी उलझी-उलझी रहती है जिन्दगी। पहली उलझी-उलझी जिन्दगी पर उपाय है दूसरी को अपना लीजिए; दूसरी उलझी-उलझी पर लेकिन कोई उपाय नहीं। पहली उलझी-उलझी जिन्दगी में अधूरापन है, दूसरी उलझी-उलझी में अधूरापन न हो, पर पूर्णता का अहसास परिवार को न बनाता हो, आदमी को जरूर अधूरा बना देता है। परिवार इस मायने में भी अजीब रचना है कि यह यात्रा भी है गन्तव्य भी है। साध्य भी साधन भी। यह थिएटर है तो मन्दिर भी जिन्हें बनाए रखने के लिए सर्कस करनी होती है।

मैं अपनी बात करूँ, अपने परिवार की अपने पैदा किए हुए परिवार की।

इन्दौर की मालती झोकरकर विदिशा के एक सामान्य अध्यापक से ब्याह कर पुष्पलता पुणताम्बेकर बनी। कुण्डलियाँ नहीं मिलाई गई थीं, लेकिन कुण्डलियाँ मिल गईं। इन्दौर-जैसा शहर और बीसवीं शताब्दी का ठीक मध्यकाल, पर मालती को यह अवसर नहीं मिला कि उससे पूछा जाए कि विदिशा के मौसा जी का भाई जो कभी हमारे यहाँ मेहमान बनकर आया था तुम्हें वह पसन्द है? उसे तो सीधे-सीधे बताया गया कि उससे तुम्हारी शादी तय हो गई है। शादी तय हुई तब वह अपने ननिहाल शाजापुर में थी।

आज विवाह को लेकर लड़की कुछ-कुछ मुँह खोलने लगी है। हाँ, कुछ-कुछ ही, जबकि 'हाय संस्कृति' का यह तीसरा दौर चल रहा है। पहला दौर कॉलेज में उभरा, दूसरा फिल्मों में से और तीसरा उभरा टी.व्ही. द्वारा। हमारे जमाने में कॉलेज यदि

मुक्त थे तो केवल सोशल गैदरिंग के दिनों में। फिल्में थीं लेकिन प्रभात न्यू थिएटर्स की सभ्य फिल्में। सच कहा जाए तो नादिया की स्टण्ट फिल्में भी सभ्य हुआ करती थीं। प्रणय-प्यार था, पर कमर-कूल्हे मटकाकर नहीं, गर्दन-आँखें नचाकर। वह सीमाएँ लौघता हो तोड़ता नहीं था। इधर सीमाओं को लेकर टी.व्ही के विज्ञापनों ने हद कर दी है। सभी को शूली पर चढ़ा दिया है। उधर सीरियलों का हाय हमारी संस्कृति का हाय हाय बन गया है।

इस तीसरे दौर में लड़की मुँह खोल भी ले तो क्या, दहेज-दानव से उसका छुटकारा कहाँ! वह उलटे उसकी जकड़न से उत्तरोत्तर बेहाल होती जा रही है।

समझ में नहीं आ रहा अपनी पत्नी की बात कहाँ से शुरू करूँ। अपनों पर लिखना बड़ा मुश्किल काम है। कहने-सुनाने की बात अलग है। वह हवा में समा जाता है, उससे मुकर भी सकते हैं।

अच्छा ही कहने पर आऊँ तो मेरी पत्नी का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह मुझे मुझ-जैसे मूडी पति को सहज झेल लेती है। पुरुष का मूडी होना औरों को इतना तकलीफदेह नहीं होता जितना उसकी स्त्री को। मेरे मूड को पत्नी ने झेला ही नहीं है ढका भी है। सो कम लोग जानते हैं कि मैं सही में क्या हूँ। मैं समझता हूँ मेरी पत्नी की भाँति हर पत्नी की यही व्यथा-कथा है। पत्नी पति को न झेले, न ढके तो परिणाम-स्वरूप परिवार न टूटते हों, पति-पत्नी की जरूर टूट जाते हैं। पत्नी अधिक जिसे हम कम ही अनुभव कर पाते हैं।

पत्नी ने जहाँ मेरे मूड को झेला है वहाँ मेरे उपेक्षा-भाव को भी। मूड स्थिति-समय विशेष की प्रतिक्रिया रही हो, पर उपेक्षा-भाव तो जैसे मेरा स्थायी भाव ही है। 'किसी चीज या व्यक्ति से कोई मतलब नहीं' के अन्दाज से आप दुनिया में नहीं जी सकते। पत्नी ने मुझे जहाँ मेहमान का आदर करना सिखाया, वहाँ दुश्मन से प्यार करना भी।

पत्नी तो शराबी-जुआड़ी को भी झेलती है। अब क्या बताऊँ मैं। कवि या लेखक किसी शराबी-जुआड़ी से कम नहीं होता। कवि या लेखक खोता-ही-खोता है और यह खोया रोने भी नहीं देता क्योंकि इसके साथ प्रतिष्ठा जुड़ी हुई है और यह प्रतिष्ठा भी वह प्रतिष्ठा नहीं होती जो किसी डॉक्टर या ऑफिसर की देखी जाती है। साहित्यकार की जो नितान्त निराकर प्रतिष्ठा होती है।

पत्नी ने मेरी कलम में स्याही न भरी हो, मेरी मेज से गर्द को जरूर दूर रखा है। मेज पर गर्द के रहते कोई लिख सका है भला! और फिर साहित्यकार क्या मेज पर अपने कमरों में ही लिखता है! मस्तिष्क में भी लिखता है। और मस्तिष्क की मेज को साफ रखने में पत्नी साथ न दे, तो उसका पति लाख कलम बहादुर हो लिख नहीं सकता। यह कितनी बड़ी बात है कि मेरी पत्नी ने गर्द और गर्ज में कोई फरक नहीं किया। घरू मकान-जैसी गर्ज को भी उसने गर्द ही माना।

विदिशा (मध्यप्रदेश) में मैं ट्यूशन करता था। वेतन इतना कम था कि जरूरत भी थी इसकी। अच्छा पैसा मिल जाता था। पर पत्नी कहती, नहीं ट्यूशन मत करो। कितनी मगजमारी करनी पड़ती है। वह चाहती कि मैं नौकरी और पढ़ने-लिखने के सिवा कुछ न करूँ। पत्नी के कोई खास गहने नहीं थे, उस जमाने में भी जब 80/85 रुपये तोला सोना था। तथापि पैसा हाथ आता तो भी वह कभी नहीं बोली, चलो बाजार चलें। मुझे गहनें खरीदने हैं। सोचता हूँ कितना अच्छा होता बोलती। वे गहने आज कितनी ऊँची कीमत के होते। तब तो सम्भवतः यह विचार न ढलता सोने का भाव जैसा-जैसा चढ़ता गया आदमी का गिरता गया।

पत्नी जितनी सहज-सोशल उतना मैं नहीं था। मेरा ख्याल है पुरुष होता भी नहीं। पुरुष का अहं (यह सादगी का भी होता है) उसे रिज़र्व बना देता है। जबकि स्त्री का सौन्दर्य (यह सादगी का भी होता है) उसे सहज बनाए रखता है। यह उसकी गृहस्थी की गर्ज के कारण कह लीजिए या प्रदर्शन की प्रवृत्ति के कारण। परिवार जैसे स्त्री के कारण परिवार है, उसी तरह समाज भी स्त्री के कारण समाज है। सभा हो, मेला-ठेला हो, सम्मेलन हो, ट्रिप हो इनमें स्त्रियाँ मुझे चलते-फिरते फूलों के गमले लगती हैं। यहाँ मैं चलते-चलते यह कहना चाहता हूँ कि नारी-मुक्ति की रौ में स्त्री फूलों के गमले के स्थान पर कहीं कैक्टस के गमले न बन जाए।

पैसे के मामले में मैं थोड़ा मितव्ययी हूँ, बल्कि कंजूस कह लीजिए। पत्नी इस मामले में नवाबी है। मैं बस हूँ तो वह टैक्सी और यह अच्छा ही है कि वह टैक्सी है। इससे मेरी लाज बची रहती है। मैं ढंग के कपड़े पहनता रहा, ढंग का खाता रहा। ढंग की चीजें घर में आईं। मैं बीमारी के तीन दिन बाद डॉक्टर के पास जाता, वह मुझे पहले ही दिन ले जाने लगी। मुझे पत्नी ने ही खाने में अचार, पापड़, चटनी, रायते की तमीज सिखाई, वरना मुझे रोटी-दाल के साथ सब्जी भी जरूरी नहीं थी। मैं पैदल चलकर जा सकता हूँ मील-मील भर। रिक्शे की तमीज मुझे उसी ने सिखाई। इसके पीछे प्रतिष्ठा का सवाल नहीं था, आराम का था।

पत्नी जितनी तत्पर उतनी आरामपसन्द भी। वह नहीं चाहती कि मैं जल्दी उठूँ और देर तक जागूँ। मेरी आदत है कि जैसे मैं अपने पर फालतू पैसे खर्च नहीं करता, उसी तरह फालतू समय भी नहीं। पत्नी चाहती है कि मैं पैसे नहीं अपने पर समय तो खर्च करूँ।

मेरे लेखकीय जीवन ने पत्नी को बहुत-कुछ एकाकी बनाया है। मुझे नहीं याद कि उसके साथ मुक्त होकर मैंने गपशप की है। खाने पर जितना बोल लिया बोल लिया। मुझे पेपर पढ़ते भी कोई बीच में बोले पसन्द नहीं। निवृत्ति के बाद भी याद नहीं मैंने किसी के साथ जमकर समय बिताया हो अथवा पत्नी को ले मैं फिल्म को, घूमने को, शॉपिंग को गया होऊँ या घर पर ही उसके साथ ताश आदि खेलने बैठ गया होऊँ। या कोई खास पदार्थ बनाकर खिलाने की फर्माइश की हो।

विशेष बात कि पत्नी ने अपने-आपको ऐसा ढाल लिया कि एकाकीपन उबाऊ न बने। उसमें लोगों को अपना लेने की चुम्बकीय शक्ति है। खासकर बच्चों को। आत्मविश्वास की कमी पत्नी की सबसे बड़ी कमजोरी रही है। सर्दी हो या गर्मी, जरा तेज हो जाए तो घबरा उठेगी। सामान्य-सा बुखार या जुकाम उसको विचलित कर देता है।

भुलक्कड़ तो नम्बर-एक है। मैं याद करूँ तो पिछले के पिछले हफ्ते के किसी दिन अथवा पिछले के पिछले माह की किसी तारीख को घटी विशिष्ट घटना को बता सकता हूँ। पत्नी को पिछले दिन का ही कुछ याद नहीं रहता।

कोई काम हाथ में लेगी तो पीछे नहीं हटेगी और लगन के साथ करेगी, किन्तु जिन्दगी को आह्वान के रूप में उसने कभी नहीं लिया। इसीलिए उसके रूटीन के बाहर के कामों में निरन्तरता कभी नहीं रही। आह्वानात्मकता के अभाव में ही वह अपने मधुर कण्ठ का विकास नहीं कर सकी, जबकि उसने संगति की तीन परीक्षाएँ विवाह पूर्व सहज उत्तीर्ण कर ली थीं।

पुरुष के अत्यन्त निकट की स्त्री उसकी पत्नी ही होती है। पत्नी पुरुष की ऐसी स्त्री है जो उसकी रानी भी, दासी भी। पुरुष ने स्त्री को रानी बनाया जब पुरुष का स्त्री पर बस नहीं चला और दासी बनाया जब स्त्री का पुरुष पर बस नहीं चला। मैं यह इतिहास की बात नहीं कर रहा हूँ, रोजमर्रा के जीवन की बात कर रहा हूँ। पत्नी गृहस्थी के खेल का बड़ा अजीब पत्ता है गुलाम भी, बेगम भी। इस पल गुलाम दूसरे पल बेगम। पर पत्नी गुलाम-बेगम के अलावा भी कुछ है। यह अहसास तो पति को तब हो, जब वह बादशाह के पते में से बाहर आएँ। होता भी है जब वह उसे खो बैठता है।

वैसे आज पति-पत्नी का रिश्ता 'आप-तुम' का नहीं रह गया है, 'तुम-तुम' पर उतर आया है। ऐसी दशा में पत्नी क्या सखा के धरातल पर ही नहीं आ विराजी है! और भी आगे। अब देखिए मेरे लिए बहन-बहन है, माँ माँ है, देवी देवी है। इसके अलावा कुछ नहीं। पर पत्नी पत्नी के अलावा बहन, माँ, देवी...दुनिया-भर की सब कुछ है। दुनिया-भर की इस भूमिका को निभाते पत्नी भूल जाती है कि वह पति की गुलाम है और उसकी इन भूमिकाओं को देखते पति यह भूल जाता है कि वह परिवार का बादशाह है और इस धरातल पर काम भाव गौण-से-गौणतर होता चला जाता है। वह चन्द्रबिन्दु हो केन्द्रबिन्दु नहीं है। केन्द्रबिन्दु जैसे भोजन नहीं रह जाता।

एक अजीब बात। लड़ने के लिए भी पति को पत्नी की जरूरत होती है। अब पत्नी क्या दुश्मन है जो वह उससे लड़ता है! इस मायने में पत्नी पति की ऐसी सखा है जिसके साथ वह लड़े भी तो वह उसे छोड़कर नहीं जा सकती और पत्नी से ही वह

जी-भरकर लड़ सकता है। आदमी लड़े नहीं तो पागल हो जाए। एक ओर माँ है जिससे वह प्यार करके भी लड़ सकता है, तो दूसरी ओर पत्नी। माँ तो जिन्दगी-भर साथ नहीं दे सकती, पत्नी देती है। फिर उस पर उसका एकाधिकार है। हम माँ का रूप नहीं देखते। एक अवस्था पर पहुँच हम पत्नी का रूप भी नहीं देखते। घनिष्ठता में आँख होती ही नहीं। हृदय-ही-हृदय होता है। वैसे भी जिन्दगी चेहरों की फिल्म नहीं है, अनुशासितों की सर्कस है। अनुशासन में जरा चूक हुई नहीं नजर जरा इधर-से-उधर हुई नहीं कि खेल खत्म।

और पत्नी की भूमिका जैसा कि ऊपर संकेत है बेडरूम तक ही तो सीमित नहीं जो उसके रूप की बात करें। उसकी भूमिका रसोई में है, बैठक में है, घर के एक-एक कोने में है। उसकी इस भूमिका से घर घर है। पत्नी अब नौकरी करने लगी है। परिणाम-स्वरूप घर घर नहीं रह गया, उसमें चमक-दमक भले ही आ गई हो। धर्मपत्नी अर्थपत्नी बन गई। इससे घर का बैंक बैलेंस बढ़ गया हो। किन्तु बैलेंस बैंक जाता रहा जिसे अनुशासन कहते हैं।

अर्धांगी जब से अर्थांगी बनी है, वह पुरुष की जीवनसंगिनी न रह जीवन रंगिनी बन गई है। यह विकास का पहलू हो, पर इससे क्या नारी की भूमिका में कोई फर्क पड़ा है! अर्थांगी स्त्री भी वहीं खड़ी है जहाँ अर्द्धांगी। उलटे अर्द्धांगी ने अपनी स्वतन्त्रता खोई है। उसका व्यक्तिगत अर्थत्व बनकर रह गया है सो अलग और पुरुष उसे उसके अर्थत्व से ही तोलने लगा है।

जैसा कि ऊपर ध्वनित है पति नहीं जानता पत्नी उसके क्या है। मैं अपनी बात कहूँ तो वह मेरे लिए हाथ-पैर है, मस्तिष्क है, पेट तो है ही। मेरी छोटी-से-छोटी बातों में वह है। वह मेरी कमीज की इस्त्री है, कमीज के बटन है। मेरे पेन की स्याही है। नहीं, वह मेरे पेन की स्याही ही नहीं शान्ति भी है, पेट्रोल में ऑइल-जैसी। पत्नी बाथरूम का गरम पानी है, पूजा का चन्दन है फूल है, अध्यापन का अध्यापन की तैयारी का एकाग्र चित्त है। वह मेरा भोजन ही नहीं बनाती, सपने भी बनाती है। हवा जिस तरह सर्वत्र व्याप्त है, पत्नी भी उसी तरह घर के कोने-कोने में व्याप्त है। वह हँसती है तो मैं हँस पाता हूँ। वह बीमार है तो सारा परिवार बीमार पड़ जाता है।

पत्नी के वार और दिनांक नहीं होते। उसके वार-दिनांक उसके पति के और बच्चों के थोपे वार-दिनांक होते हैं। आठ या दस उसके नहीं, उसके पति या बच्चों के बजते हैं। पत्नी माँ की तरह मुझे जगा रही है, नहला रही है, खिला रही है, कपड़े पहना रही है, ऑफिस रवाना कर रही है ऐसा नहीं होता और ऐसा ही होता है। मैं समय तब पकड़ पाता हूँ जब पत्नी पहले समय पकड़ती है। मैं गिरता हूँ और वह सहारा देकर मुझे उठाती है जैसे माँ बच्चे को ऐसा नहीं होता और ऐसी ही होता है। बच्चों के मामले में भी परीक्षा बच्चे नहीं वही देती है। वह सजग है, तत्पर है, निस्पृह है मेरे लिए, तथापि उसकी छोटी-मोटी गलती के लिए, भूल के लिए मैं उसे झिड़क देता हूँ।

पत्नी कितनी ही पढ़ी-लिखी हो वह भाव है, कल्पना है और पति कितना ही निरक्षर हो वह है विचार जो अपनी पत्नी पर थोपता है। पुरुष के नाते मेरी भी यही प्रकृति रही है, फिर ठहरा आध्यापक और लेखक। न जाने कितने विचार दे मारे हैं। भाव-कल्पना पर विचार की मार जिन्दगी में यों ही दुःखवादी बुद्धिमत्ता भर देती है। आज आधा संसार-जहाँ भूख से पीड़ित है वहाँ शेष आधा बौद्धिकता से।

परिवार की सब कुछ, परिवार में से जिसे घटा दो तो परिवार शून्य बन जाता है उस पत्नी का अपना व्यक्तित्व क्या होता है? पति पैसा-पद-प्रतिष्ठा पर परवान चढ़ जाता है और जिसे पति को पाल-पोसकर पत्नी ने इस योग्य बनाने में सब कुछ होम कर दिया वह कहीं शुमार में ही नहीं। इसकी उसे कोई शिकायत भी नहीं। इस मायने में पत्नी, निस्पृहता की प्रतिमूर्ति होती है। पत्नी माँ की परिणति में ही धन्य हो लेती है, जिसमें वह बच्चों-सहित पति को भी फलता-फूलता बनाती है।

यह पारम्परिक पत्नी की बात की है मैंने और यह बड़े खेद के साथ लिखना पड़ता है कि पारम्परिक पत्नियाँ ही सफल गृहस्थी बनाती हैं। परम्परा जिसे प्रतिगामिता या दकियानूसीपन कहा जाता है टूटी नहीं कि परिवार बिखरने को हो आता है। आधुनिकता की बौद्धिकता जब औरत में भी आई और पत्नी के नाते जब वह पति से अपने लिए सवाल करने लगी वाजिब सवाल तो पति आहत हुआ उसका पुरुष। और भी आगे, पत्नी जब धर्मपत्नी से अर्थपत्नी बन गई, तो अब उसका भी व्यक्तित्व उभरा अब उसकी भी पहचान बनी। इस दशा में पत्नी यदि पति से बराबरी के दर्जे के लिए सवाल करे तो इसमें बुराई नहीं। पर आहत पति की बौद्धिकता पत्नी के सवालों का जवाब नहीं देती, उससे टकराने लगती है। पाश्चात्य देशों में बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में जो कुछ हुआ वह हमारे यहाँ अब शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ है। परिणामस्वरूप परिवार बिखर रहे हैं। इसे देखते हुए कहना पड़ता है कि यह ठीक नहीं हो रहा है। पर बौद्धिकता के विकास में आप नारी को परम्पराओं में जकड़कर रखें, वह निरा भावुक बनी रहे यह भी तो ठीक नहीं। वह अपनी पहचान न बनाए यह प्रतिष्ठा की ओर न बढ़े यह उचित नहीं। पुरुष को उसके साथ समझौता करना होगा, उसके व्यक्तित्व उसकी बौद्धिकता के साथ-समन्वय स्थापित करना होगा। ऐसे ही जैसे वह उसके भाव और देह के साथ स्थापित करता है।

हाँ, नारी को भी चाहिए कि वह पुरुष-जैसे विचार तो धारण करे, पर उसके-जैसे कपड़े नहीं और ध्यान रखे बौद्धिकता मर्यादा की छूट नहीं देती।

सामाजिक चेतना और प्रतिबद्धता के मुँहताज निरीह वृद्ध और अनाथ किशोर अपराधी

ए. सी. सिन्हा*

चिन्तन-सृजन के अप्रैल-जून अंक में शिवनारायण जी का लेख पढ़ा। लेख के अन्य पाठक बड़े भाई और पत्नी से चर्चा की। तदुपरान्त लगा कि मेरे पास व्यक्तिगत अनुभव और शोध सम्बन्धी कुछ ऐसी बातें हैं जिसे पाठकों तक पहुँचाना श्रेयकर होगा। करीब 25 वर्ष पहले की बात है। मैं संयुक्त राज्य अमेरिका के कैलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय में वरीष्ठ अतिथि आचार्य के रूप में पढ़ा रहा था। एक दिन मेरे आश्रय दाता मित्र ने बताया कि उनके कोई ईसाई मिशनरी मित्र उस शाम उनसे मिलने आ रहे हैं। चूँकि उनके मित्र को भारतीय भोजन प्रिय था, क्यों नहीं हम एक साथ रात्रि-भोजन करें। अमेरिकी मित्र सपत्नि नियत समय पर आए। जब भोजन की बात आई, तो उन्होंने दुख के साथ भोजन करने में उस शाम असमर्थता जताई। क्योंकि उस रात हमारे 64 वर्षीय मेहमान अपने 94 वर्षीय पिता को वृद्धाश्रम से लेकर किसी होटल में डिनर कराने वाले थे।

उनके जाने के पश्चात मैंने स्वाभाविक रूप से अपने मित्र से उनके मिशनरी मित्र के विषय हो जिज्ञासा प्रकट की। मिशनरी मित्र एक मानवशास्त्री थे और तथाकथिक अविकसित समाज के विकास के पक्षधर थे। अपने बूढ़े पिता को वृद्धाश्रम में भरती कराकर वे स्वयं सपत्निक आदिम जातियों के उत्थान में व्यस्त रहते थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने फिलीपीन्स, मलाया और पूर्वोत्तर भारत में ईसाई मिशन के विभिन्न क्रिया-कलापों में भाग लिया था। मेरे मित्र ने बताया कि प्रायः अमेरिकन लोग अपने माता-पिता को वृद्धाश्रम में भरती कराकर उन्हें भूल जाते हैं। परन्तु यह मित्र साल में एक बार अपने पिता के जन्मदिन के अवसर को नहीं भूलता और उस दिन उन्हें बाहर किसी होटल में भोजन कराया करता है।

*प्रो. ए.सी. सिन्हा ICSSR नेशनल फेलो, नेहरू मेमोरियल म्युजियम तथा लाइब्रेरी तीन मूर्ति हाउस, नई दिल्ली; भूतपूर्व आचार्य, समाजशास्त्र, उत्तर पूर्वी पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलाँग।

स्वाभाविक है कि उसके बाद वृद्धाश्रम की संस्था में मेरी जिज्ञासा बढ़ी। मैंने कुछ वृद्धाश्रमों का भ्रमण भी किया। प्रायः उन्हें निवासीय होटल कहना चाहिए, जहाँ आश्रय-भोजन, मनोरंजन और स्वास्थ्य सम्बन्धी सारी सुविधाएँ संस्थागत रूप में उपलब्ध रहती हैं। उनकी व्यवस्था और संचालन प्रशिक्षित व्यक्तियों द्वारा संस्थागत रूप से की जाती है। अपने अमेरिकन और यूरोपियन प्रवास के क्रम में वृद्ध जनों के विषय में कितने ही चिन्तनीय उदाहरण पाए। परन्तु मन-ही-मन मुझे लगा कि भारत की टूटती हुई संयुक्त परिवार की संस्था, बिखरती ग्रामीण एकता और विभिन्न प्रकार के सामाजिक विद्वेष की स्थिति में वृद्धाश्रम की परिकल्पना समीचीन होगी।

2

1990 के दशक के आरम्भ में भारत सरकार के लोक कल्याण मंत्रालय ने देश के वृद्धजनों की स्थिति का अध्ययन करने का निर्णय किया। उस कक्ष में अन्य संस्थाओं और विद्वानों के साथ-साथ पूर्वोत्तर भारत के वृद्धजनों की पारिवारिक सामाजिक और आर्थिक स्थिति का सर्वेक्षण करने का दायित्व मुझे सौंपा गया। हमारे अध्ययन से दो बातें मोटे तौर पर उजागर हुईं। पहली, प्रायः जनजातीय समाज में पारिवारिक टूट और बिखराव कम हुआ, क्योंकि उनके यहाँ प्रायः संयुक्त परिवार की संस्था की परिकल्पना नहीं थी। दूसरी, वृद्धजनों की समस्या प्रायः विकट नहीं हो पाती, क्योंकि सगोत्रीय परिवार असहाय वृद्धजनों के संरक्षक माने जाते हैं। यही कारण है कि उनके यहाँ कोई अनाथ बच्चा या आश्रयहीन बुजुर्ग नहीं पाया जाता और कोई भीख नहीं माँगता। आदिम समाज में बच्चे, बूढ़े, मर्द और औरत धनी और गरीब सभी एक साथ जीते हैं, या मरते हैं। फिर भी कुछ हृदय विदारक अपवाद मिले, जिनका वर्णन समीचीन होगा। पितृसत्ताक परिवारों के विपरीत मेघालय की मातृसत्ताक समुदायों में बूढ़े पुरुषों को स्थिति पितृसत्ताक हिन्दू परिवारों की निःसंतान विधवाओं के समान होती है। हमें कुछ ऐसे भी उदाहरण मिले कि शिक्षित और उच्च पदों से सेवानिवृत्त खाशी पुरुष वृद्धावस्था में अपने ही बनाए घरों से अपनी ही पत्नियों, बेटियों और उनके बच्चों द्वारा निष्कासित कर दिए गए। परम्परा के अनुसार उनकी जिन्दगी-भर की जमापूँजी बेटियों को मिलती है जो अपनी माँ, पति और बच्चों के साथ आराम से रहती हैं। परम्परा के अनुसार खाशी जनजाति के बेटे तो शादी के उपरान्त अपनी पत्नियों के यहाँ पनाह पाते हैं। हमने पाया कि ऐसी स्थिति में शिलाँग स्थित रोमन कैथलिक मिशन द्वारा स्थापित और संचालित वृद्धाश्रम 'मर्शी होम' में वर्षों तक के लिए स्थान रिक्त नहीं हो पाते।

शोध के सन्दर्भ में जब आश्रम संचालिका से उनके विगत अनुभव के विषय में जिज्ञासा की तो उन्होंने बताया कि आयरलैंड से वृद्धाश्रम संचालन का प्रशिक्षण लेने के बाद उनकी नागालैंड में बहाली हुई। नागालैंड के प्रवेश-द्वार माने जाने वाले नगर दीमापुर में कैथलिक मिशन ने वृद्धाश्रम की स्थापना की और उसके संचालन का प्रभार

आयरिश महिला को सुपुर्द कर दिया गया परन्तु वर्षों तक कोई वृद्ध आश्रम के दरवाजे पर नहीं आया, लाचार होकर उस स्थान पर अन्य क्रिया-कलाप होने लगे। स्मरणीय हो कि नागालैंड में अंग्रेजों ने अमेरिकन बैप्टिस्ट मिशन को ही ईसाई पंथ के विस्तार का लाईसेंस दे रखा था। आजादी के बाद ईसाई धर्म के अन्य पंथ नागालैंड आने लगे। रोमन कैथोलिक भी उन्हीं में से एक था। जब नागालैंड में वृद्धाश्रम की इमारत का इतर इस्तेमाल होने लगा, तो उसे बन्द करना पड़ा और उसके क्रिया-कलापों का मेघालय के नगर शिलॉंग में स्थानांतरण कर दिया गया।

अपने शोध के सम्बन्ध में मैंने दीमापुर के वृद्धाश्रम के प्रश्न को कई वरिष्ठ नागा मिशनरियों और प्रबुद्ध जनों के साथ उठाया। मेरे नागा मित्र प्रश्न सुनकर प्रायः गम्भीर हो जाते थे। फिर उन्होंने एक स्वर से उत्तर दिया : “न तो ऐसा विचार किसी वृद्ध या वृद्धा के मन में आएगा, और न तो कोई नागा कुल समूह या गोत्र ऐसा होने देगा।” किसी भी वृद्ध नागा की उपेक्षा, तिरस्कार, अनादर, शारीरिक या मानसिक आघात पूरे कुल की प्रतिष्ठा का प्रश्न होता है। निःसंतान बुजुर्ग पूरे कुल समूह के सदस्य के रूप में भरण-पोषण और प्रतिष्ठा के हकदार माने जाते हैं। और उनके देखभाल का दायित्व पूरे कुल समूह का माना जाता है। अगर कोई बुजुर्ग किसी अन्य गाँव या कुल में शरण पाता है तो इससे उसका कुल अपना अपमान मानता है। यहाँ तक कि धर्म-परिवर्तन के पश्चात् भी इस पारम्परिक सोच में बदलाव नहीं आया है। अगर कोई नागा दूर-दराज स्थान पर मरता है और उसे वहीं दफना दिया जाता है तो कालान्तर में उसके परिवार और कुल के सदस्य मृत व्यक्ति की अस्थियों को उसके गाँव स्थित कब्रगाह में लाकर श्रद्धापूर्वक दफनाते हैं। कुल समूह सामूहिक रूप से अपने पूर्वजों की अस्थियों का संरक्षक माना जाता है। सभी नागा मृत व्यक्ति की अस्थि-पुनरागमन की प्रक्रिया में श्रद्धापूर्वक सहयोग करते हैं।

3

आज से करीब साठ-पैंसठ वर्ष पहले जब मैं अपने गाँव की पाठशाला में पढ़ता था, तो गाँव और पड़ोस के सभी गाँव सामाजिक रूप से संगठित थे। ग्रामीणों का मुख्य उद्यम खेती और पशुपालन था। प्रायः अधिकतर परिवार संयुक्त परिवार थे, जिनमें चार पीढ़ियाँ तक प्रायः एक साथ रहती और भोजन करती थीं। व्यवस्था सामन्ती थी, परन्तु अत्याचार प्रायः नहीं होते थे। ‘पवनी’ और ‘यजमानी’ प्रथा कृषि के इर्द-गिर्द घूमती थी। पुरोहित, धोबी, नाई, बड़ई, लुहार, कुम्हार, बुनकर आदि जातियाँ भूस्वामी परिवर्ग के पवनी कहलाते थे और भूस्वामी उनका यजमान। पवनी कहे जाने वाले परिवार साल-भर कृषक परिवार को अपनी सेवाएँ उपलब्ध कराते थे और सेवा के दिन भोजन पाते थे। पर्व-त्यौहारों और शादी-ब्याह के अवसर पर उन्हें वस्त्र और भोजन दिया जाता था। फसल की कटाई के समय परिवार के मुखिया की सहमति से पवनी

सबसे अच्छी फसल की एक इकाई काटकर अपने घर ले जाते थे। इस प्रकार फसल अच्छी होने पर पूरा गाँव खुशहाल होता था और फसल बिगड़ने पर पूरा गाँव तबाही भोगता था। फसल से सम्बन्धित कुछ ऐसे त्यौहार थे, जिनमें हिन्दू-मुसलमान और सभी जातियाँ शामिल होती थीं।

प्रत्येक परिवार का एक मुखिया होता था जो आमदनी-खर्च, शादी-ब्याह, नाते-रिश्ते, खेत-खलिहान, पेड़-पौधों, पशुओं आदि सभी विषयों पर नजर रखता था। खेती सुचारु रूप से चले और उसमें यथा-सामर्थ्य सभी सदस्य सहयोग करें यह दायित्व मुखिया का होता था। अक्षम, विधवा, अनाथ, बीमार या अन्य कमजोर सदस्यों की आवश्यकता को मुखिया पूरा करता था। संयुक्त परिवार में कोई भी बच्चा अनाथ नहीं होता था। परिवार का मुखिया गाँव या गाँव से बाहर रिश्तेदारी में परिवार का प्रतिनिधित्व करता था। ऊँच-नीच भूस्वामी-भूमिहीन, यजमान और पवनी सभी परिवारों की अपनी प्रतिष्ठा होती थी; गाँव की समस्याओं पर विचार करने के लिए गाँव के विभिन्न जातियों के प्रतिष्ठित बुजुर्गों की परम्परागत पंचायत बैठती थी। पंचायत का निर्णय सर्वसम्मति से और सर्वमान्य होता था। यहाँ तक की स्वतन्त्रता के बाद जब औपचारिक ग्राम पंचायत का प्रादुर्भाव हुआ, तो दो दशक तक उपर्युक्त बुजुर्ग ही निर्विरोध पंच चुने जाते रहे।

स्वाभाविक है देश के आजाद होने के बाद परिवर्तन की लहर तेज हो गई। धीरे-धीरे गाँव का युवा-वर्ग शिक्षा पाकर, रोजी की तलाश में शहरों की तरफ मुड़ने लगा। आरम्भ में ऐसे व्यक्ति प्रायः अपनी पत्नियों और बच्चों को गाँव में छोड़ जाते थे और अपनी आय का अधिकतर भाग परिवार के मुखिया को मनीऑर्डर कर देते थे। कालांतर में ऐसे परिवार शहरों में स्थानांतरित होने लगे। फिर भी घर के मुखिया को मनीऑर्डर पहुँचता रहा। धीरे-धीरे उसकी मात्रा और अनवरतता कम होने लगी। दादा, पिता, चाचा, या बड़े भाई के परिवार के मुखिया के स्थान के रिक्त होते ही ऐसे परिवारों में शहरों से मनीऑर्डर आना प्रायः रुक जाता। गाँव में खेती की बदलती स्थिति परम्परागत-मानसून प्रद कृषि के स्थान पर उन्नत बीज और रासायनिक खाद के लिए रुपयों की आवश्यकता थी। फलस्वरूप वैसे खेतिहर परिवार जिन्हें बाहर से पैसों की आमदनी थी खेती में आगे निकल गए। साथ-ही-साथ टूटता हुआ सामन्ती परिवार गाँव की जमीन बेच शहर में बसने लगा और शहरी मध्यम वर्ग के भीड़ में खोने लगा। प्रायः दो दशक बाद गाँव के ग्रामीण परिवारों में खान-पान, पहनावा, तड़क-भड़क बढ़ने लगी। जैसे-जैसे परिवार में बाहर से कैश आता रहा, खेती करने वाले गौण होने लगे। घर के मुखिया को भी परिवार के सभी सदस्यों पर समान नजर रखते हुए भी नौकरी पेशा इकाइयों को तरजिह देना पड़ता। फलस्वरूप परिवार के मुखिया की खुदमुख्तारी और इज्जत घटने लगी। जैसे ही मुखिया पर पक्षपात के स्वर उठने लगे, वैसे ही संयुक्त परिवार टूटने के कगार पर आ गया। यह प्रक्रिया बढ़ती गई और संयुक्त परिवार टूटते चले गए। परिवार के मुखिया की प्रतिष्ठा का परिवार

या गाँव में कम होने का मतलब था गाँव की सामूहिक शक्ति पर चोट। फिर तो गाँव की सामूहिक शक्ति विखरने लगी। फिर गाँव पंचायत चुनी जाने लगी और चुनाव में जात-पाँत, ऊँच-नीच-जन्म गुटबाजियाँ होने लगीं। आज गाँवों के संयुक्त परिवार प्रायः टूट चुके हैं और जो अस्तित्व में हैं वे अनुकरणीय नहीं रह गए हैं।

प्रायः देखने में गाँव का जीवन-स्तर पहले से अच्छा है। प्रायः सभी अच्छा भोजन करते हैं; अच्छे वस्त्र पहनते हैं; अच्छे घरों में रहते हैं और बहुतों के पास पैसों की आमदनी है। फिर भी कोई किसी की नहीं सुनता। गाँव में आज बड़े-बूढ़ों अनुभवी लोगों की कोई नहीं सुनता। गाँव का नैतिक नियंत्रण खत्म-सा हो चला है। बूढ़े, बीमार, अपंग, विधवा और अनाथ की अवस्था अच्छी नहीं है। गाँव पतन की राह पर बढ़ रहा है। अब गाँवों में भी वे समस्याएँ पाई जाने लगी हैं, जिन्हें हम शहरों से जोड़कर देखते रहे हैं। व्यभिचार जातीय संघर्ष, हिंसा, मार-पीट, चोरी-डकैती बढ़ गई है। फलस्वरूप शारीरिक और सामाजिक रूप से लाचार और कमजोर ग्रामीण गाँवों में बोझ बनने लगे थे; मैथिलीशरण गुप्त जी का “अहा! ग्राम जीवन भी क्या है? थोड़े में निर्वाह यहाँ है। ऐसी सुविधा और कहाँ है?” इतिहास बनता जा रहा है।

4

इस सन्दर्भ में समाज से जुड़ी एक दूसरी विकराल समस्या की तरफ मैं पाठकों का ध्यान दिलाना चाहूँगा। आए दिन संचार साधन बाल-अपराध और बाल-अनाचार के समाचारों से भरे पड़े रहते हैं और लगता है इस बढ़ते हुए सामाजिक कोढ़ की तरफ हम पर्याप्त ध्यान नहीं दे पा रहे हैं। मुझे मालूम है कि ‘प्रयास’ और ‘बचपन’ ऐसी कुछ स्वयंसेवी संस्थाएँ हैं, जो अत्यंत ही सराहनीय काम कर रही हैं। परन्तु बहुत कुछ करना बाकी है। भारत सरकार के लोक कल्याण मंत्रालय ने अनाथ और किशोर अपराध से सम्बन्धित व्यवस्था के अनुसार राज्य और जनपदों के स्तर पर किशोर अपराध परिषद् (Juvenile Justice Board) की व्यवस्था की है। इस संवैधानिक व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक राज्य और जनपद में स्थानीय न्यायाधीश की अध्यक्षता में न्यायविद्, पुलिस, स्वयंसेवी संस्थाओं और गणमान्य नागरिकों की परिषद् के गठन की व्यवस्था है, ताकि अनाथ, असहाय, किशोर अपराधियों के आश्रय, प्रशिक्षण और पुनर्वास की व्यवस्था की जा सके।

आज से करीब पच्चीस वर्ष पहले पटना स्थित स्वयंसेवी संस्था, ‘बचपन’ के संचालक-अधिवक्ता सनत कुमार सिन्हा ने बिहार सरकार पर एक याचिका दायर की कि उसने अनाथ और किशोर अपराध से सम्बन्धित व्यवस्थाओं के अनुसार परिषदों का गठन न कर अपने संवैधानिक दायित्व का पालन नहीं किया। याचिकाकर्ता ने न्यायालय से माँग की कि वह सरकार को अपने कानून का पालन करने के लिए बाध्य करे। कोर्ट ने फैसला याचिकाकर्ता के पक्ष में दिया, फिर भी कोई कार्यवाही नहीं हुई। अन्त में उन्होंने यह प्रश्न संसद में उठाया। फलस्वरूप तत्कालीन केन्द्रीय लोक

कल्याण मंत्री श्री सीताराम केशरी ने उत्तर दिया कि वर्तमान सम्बन्धित प्रावधानों में खामियाँ सुझाई गई हैं। इस कारण सरकार पूरे देश में इस विषय पर सर्वेक्षण (Survey) करा रही है। सर्वेक्षण से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर इस विषय में सरकार सदन को विश्वास में लेगी।

इतेफाक की बात थी कि उन दिनों मैं लोक कल्याण मंत्रालय के केन्द्रीय शोध परामर्शदात्री परिषद् का सदस्य था। अनाथ बच्चों और किशोर अपराधियों के किन्हीं आँकड़ों के आधार पर सभी राज्यों की शृंखलाबद्ध सूची बनाई गई थी। इस सूची में महाराष्ट्र, गुजरात, कर्नाटक आदि ऊपर थे और बिहार, उड़ीसा और असम सबसे निचले पायदान पर थे। लोककल्याण मंत्रालय ने उपर्युक्त सर्वेक्षण के आधार पर पूरे देश के शोध संस्थाओं से प्रस्ताव मँगाए और गुण-दोष के आधार पर उनका आवंटन कर दिया गया। कई राज्यों के सर्वेक्षण आरम्भ भी हो गए, परन्तु बिहार और उड़ीसा से कोई प्रस्ताव नहीं आया। मंत्रालय ने उन राज्यों के शोध संस्थाओं से सीधे सम्पर्क कर प्रस्ताव मँगाने का प्रयास किया, परन्तु बिहार और उड़ीसा के सर्वेक्षण के लिए कोई आगे नहीं आया।

नियत समय पर जब शोध परामर्श परिषद् की बैठक हुई तो स्वाभाविक रूप से इस बात की चर्चा हुई। कुछ विचार विमर्श के बाद तत्कालीन कल्याण सचिव ने परिषद् की तरफ से साग्रह प्रस्ताव किया कि बिहार और उड़ीसा के लिए अनाथालय और किशोर अपराध सम्बन्धी सर्वेक्षण का काम मैं सम्पन्न करूँ! मैंने दो कारणवश इस प्रस्ताव का विरोध किया। पहला, शोध परामर्श परिषद् के सदस्य होने के नाते मैं इस आवंटन को अनैतिक मानता था। दूसरा, मेरा कार्यक्षेत्र उत्तर-पूर्वी पहाड़ी विश्वविद्यालय, बिहार और उड़ीसा से दूर है। व्यक्तिगत और कार्यगत असुविधाओं के अलावा, आवागमन का व्यय बढ़ जाता। परन्तु मेरे विरोध के बावजूद परिषद् ने किसी अन्य विकल्प के अभाव में सर्वेक्षण की जिम्मेवारी मुझे सौंप दी।

सर्वेक्षण के सन्दर्भ में जो सूचनाएँ और तथ्य सामने आए वे कितने घिनौने कुत्सित, अपर्याप्त होंगे, इसकी मैंने कल्पना तक नहीं की थी। सरकारी अधिकारी-नौकरशाही न्याय व्यवस्था, आरक्षी विभाग आदि कितने अकर्मण्य और हृदयहीन हो सकते हैं, अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। बिहार में इस सम्बन्ध में कोई संस्थागत अंग काम नहीं कर रहा था। एक सप्ताह चक्कर मारने के बाद सम्बन्धित अधिकारी ने रहस्य प्रकट किया कि राज्य सरकार ने अनाथ-किशोर अपराध न्यायिक परिषद् का गठन नहीं किया था। इस सम्बन्ध में राज्य कल्याण विभाग ने उचित पहल नहीं की। हाई कोर्ट ने भी इसे नजरअंदाज कर दिया, स्वाभाविक था ऐसी स्थिति में जनपदीय स्तर के परामर्शदात्री परिषदों का गठन नहीं हुआ। नियम के विपरीत प्रत्येक जनपद में अनाथाश्रम, Remand Home या पुनर्वास गृह नहीं बनाए गए, जो पुरानी संस्थाएँ थीं, उनकी सुविधा, रख-रखाव, पर्यवेक्षण का अभाव था। असहाय, अनाथ, लाचार शरणागतों के भरण-पोषण के लिए दैनिक भत्ता सात रुपये

प्रतिदिन तय था; जिसमें भोजन, साबुन, तेल, दवाएँ सभी कुछ सम्मिलित था। आश्रम के मुलाजिम उसका बड़ा भाग हड़प जाते थे। कई अनाथाश्रम और पुनर्वास गृह के मुलाजिम अपने शरणागत अनाथ बच्चों से अनैतिक और व्यभिचारी कार्य कराते पकड़े गए। सामाजिक पतन की जीती-जागती तस्वीर तब सामने आई, जब सुधार घरों के मुक्त लड़के-लड़कियाँ अपने माँ-बाप के साथ जाने की अपेक्षा अनाथालय का नारकीय आधे पेट खाकर जीवन जीने को श्रेयष्कर समझते थे। जिज्ञासा करने पर पता लगा कि उपर्युक्त बच्चों के पतन के कारण उनके अपने माँ-बाप ही थे।

यह बात किसी से छिपी नहीं है कि बिहार में बच्चों के स्वस्थ और समान विकास के लिए मूल-भूत सुविधाओं का अभाव है। लगता है इस विषय पर किसी का कभी ध्यान ही नहीं गया। बिहार के बच्चों के स्वस्थ विकास के लिए क्या सुविधाएँ उपलब्ध हैं? बाल-उद्यान? बाल-वाटिकाएँ? बाल-क्रीड़ाघर? बच्चों के सुरक्षित खेलने का स्थान? उनके तैरने के तरणताल? प्राथमिक विद्यालयों में पाखाने-पेशाब करने की सहूलियतें और पीने के पानी की व्यवस्था? कभी कुछ पहल होती भी है तो आरम्भ करके अधूरा काम छोड़ दिया जाता है। यह एक सार्वभौम तथ्य है कि आज के बच्चे ही कल के भविष्य हैं। अगर आज के बच्चों के रख-रखाव पर हम प्रभावकारी नियोजन नहीं कर पा रहे हैं और उनके सामान्य स्वाभाविक विकास के लिए कम-से-कम सुविधा नहीं जुटा पा रहे हैं तो कल के बिहार की किस प्रकार के भविष्य की अपेक्षा करते हैं?

5

हमारे बुजुर्ग हमारी परम्परा, विरासत और इतिहास की कड़ी हैं। उन्होंने यथायोग्य समाज के विकास में अपना योगदान किया है, तभी तो आज की युवा पीढ़ी आत्म-विश्वास और स्वाभिमान के साथ नए सम्पन्न राष्ट्र के निर्माण में संलग्न है। अगर आज बुजुर्ग लाचार हैं, बीमार हैं, साधनहीन और अनाश्रित हैं, तो क्या समाज और सरकार का दायित्व नहीं बनता कि उनकी समस्याओं का संस्थागत निदान करे? अगर परिवार अक्षम है, ऐसे लोगों का भरण-पोषण या भार वहन करने में, तो क्या समाज और सरकार भी कुछ नहीं कर पाएगी? इसी प्रकार अनाथ किशोर अपराधियों की जटिल स्थिति का निराकरण सम्बन्धित सुविधाओं का स्वस्थ संचालन और सम्पादन करके ही किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में राजनेता, न्यायाधीश, न्यायविद, पुलिस और स्वयंसेवी संस्थाएँ सबों को सामूहिक सकारात्मक पहल करनी होगी। अगर हम में आत्म-सम्मान और आत्म-गौरव है, तो फिर अपने बुजुर्गों और असहाय बच्चों को अपने साथ लें और उन्हें समाज में आजादी से जीने का हक दें। प्रश्न सामाजिक चेतना और प्रतिबद्धता का है।

हिन्दी कहानी के प्रारंभिक पंद्रह वर्ष : एक गवेणात्मक दृष्टि

पुष्पपाल सिंह*

हिन्दी कहानी के जन्म को उन्नीसवीं शती के अंतिम वर्षों या उससे भी 10-15 वर्ष पहले तक के समय को माना जाता रहा है, या बीसवीं शती के प्रारंभ होते-होते हिन्दी कहानी का जन्म सिद्ध किया जाता रहा है। हिन्दी की पहली कहानी कौन-सी है, इस विषय को लेकर खूब लंबी बहसें, तर्क-वितर्क, साहित्य-जगत में हुए हैं और अब तक इस विषय में पत्रिकाओं में लिखा जाता रहा है। वस्तुतः हिन्दी कहानी के प्रारंभिक इतिहास और समग्र इतिहास को देखने के कई आधार हो सकते हैं : एक तो समयगत आधार यह हो सकता है कि बीसवीं शती पूर्व अर्थात् उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध के भी बाद के वर्षों में, कहानी के नाम पर जो छिट-पुट प्रयास हुए, उनका मूल्यांकन करते हुए बीसवीं शती पूर्व की हिन्दी कहानी और बीसवीं शती की कहानी के रूप में कहानी का अध्ययन किया जाए। किंतु काल से भी अधिक महत्वपूर्ण साहित्यिक इतिहास में घटनाएँ या युग-प्रवर्तक व्यक्तित्व होते हैं। इस दृष्टि से 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन समस्त आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास में, विशेषतः कहानी के इतिहास में, एक बहुत बड़ी घटना है। प्रेमचंद्र एक शलाका पुरुष के रूप में हिन्दी कथा के युग-प्रवर्तक पितामह सिद्ध होते हैं। उनको केंद्र में रखकर समस्त हिन्दी कहानी के इतिहास का आकलन किया जा सकता है। यद्यपि हिन्दी में प्रेमचंद्र की प्रथम मौलिक कहानी 'परीक्षा' (प्रताप, विजयादशमी अंक) 1914 ई. में प्रकाशित हुई तथा 'सौत' दिसंबर, 1915 ई. की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी, किंतु उन्हें प्रसिद्धि 1916 ई. की 'सरस्वती' के जून अंक में प्रकाशित 'पंच परमेश्वर' से ही मिली। कदाचित् इसीलिए भ्रमवश कुछ लोगों में 'पंच परमेश्वर' को ही प्रेमचंद्र की पहली हिन्दी कहानी मान लिया। प्रेमचंद्र को हिन्दी कहानी के पुरोध, युग-पुरुष, मानकर उसके इतिहास का अध्ययन निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है :

*पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला; संपर्क : 63ए केशरबाग, पटियाला (पंजाब)

1. प्रेमचंद पूर्व युग (19वीं शती के बाद के वर्षों से 1915 ई. तक)
 - (क) 'सरस्वती' से पूर्व का काल (सन् 1900 ई. से पूर्व)
 - (ख) 'सरस्वती' के प्रकाशन के पश्चात् (सन् 1900 से 1916 ई.)
2. प्रेमचंद युग (सन् 1917 से 1936 ई.)
3. प्रेमचंदोत्तर युग (सन् 1937 से अद्यतन)
 - (क) स्वातंत्र्य पूर्व कहानी (सन् 1937-1947 ई.)
 - (ख) स्वतंत्र्योत्तर कहानी (सन् 1947 से अद्यतन)
 - (ग) नई कहानी
 - (घ) समकालीन कहानी

प्रेमचंद-पूर्व युग में 'सरस्वती' के प्रकाशन से पहले का कहानी-इतिहास उन्नीसवीं शती में हुए कथा-प्रयत्नों का इतिहास है, वस्तुतः वे कथात्मक प्रयास-भर हैं, कहानी नहीं। उन्नीसवीं शती का प्रारंभ होते-होते सन् 1803 ई. के आस-पास (यद्यपि आचार्य रामचंद्र शुक्ल उसका रचना समय सन् 1798 से 1803 ई. के बीच कभी मानते हैं)¹ मुंशी इंशाअल्ला खॉ की 'रानी केतनी की कहानी' (पूरा नाम 'उदैभान चरित या रानी केतनी की कहानी') लिखी जो बहुत समय तक पहली कहानी के रूप में मान्यता प्राप्त रही, किंतु यह कहानी अपने स्वरूप-विधान (फॉर्म) में कहानी की अपेक्षा उपन्यास के अधिक निकट है। वस्तुतः हिन्दी गद्य का वह ऐसा समय है जब प्रायः बीसवीं शती के प्रारंभ तक 'उपन्यास' और 'कहानी' का रूपगत अंतर स्पष्टतः स्थापित नहीं हो पाया था।² कहानी के एकायामी होने का चरित्र उस समय तक उभर कर नहीं आ सका था, इसीलिए लल्लूलाल के 'प्रेमसागर' (सन् 1803 ई.) और सदल मित्र के 'नासिकेतोपाख्यान' (रचनाकाल नगभग 1803 ई.) की चर्चा भी कथात्मक प्रयासों में की जाती है, किंतु ये तो पौराणिक धारा की कथाओं श्रीकृष्ण कथा का एकत्रीकरण थीं। किंतु लल्लूलाल के 'प्रेमसागर' को अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई, श्रीकृष्ण की कथा हिन्दीभाषी प्रदेशों में उसके माध्यम से घर-घर में पहुँची। इन सब प्रयत्नों ने हिन्दी कहानी को पीठिका अवश्य प्रदान की, किंतु निश्चित रूप से अभी कहानी का जन्म काफ़ी दूर था।

इसके पश्चात् उन्नीसवीं शती के प्रायः अंत के 20-25 वर्षों में कुछ ऐसे कथात्मक प्रयास होते हैं जो निश्चित रूप से कहानी के आधुनिक रूप से बहुत निकट भी आ पहुँचते हैं या कहें कि ये हिन्दी कहानी के जन्म के पूर्वाभास हैं। सन् 1880 ई. में मुंशी नवलकिशोर द्वारा संपादित 'मनोहर कहानी' नामक संकलन प्रकाशित हुआ तथा इसी प्रकार के दो और प्रयत्न हुए, राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' ने 'वामा मनरंजन' का प्रकाशन 1886 ई. में और पं. अम्बिकादत्त व्यास ने 'कथा-कुसुम कलिका' का प्रकाशन 1888 ई. में कराया। इनके अतिरिक्त हास्य-कथाओं का एक संकलन 'हास्य रतन' 1886 ई. में चंडीप्रसाद सिंह द्वारा प्रकाशित कराया गया। ये सभी कहानियाँ एक ओर

तो नीतिपरक हैं और दूसरी ओर इतिहास, पुराण, धर्म, ग्रंथों का आश्रय लेती हैं। इनमें अनेक लोक-कथाएँ भी आई हैं। इन्हें बहुत-से लेखकों से लिखवाकर संपादित किया गया है। डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ ने अलीगढ़ से प्रकाशित 'शिलापंख' पत्रिका में 1976 ई. के जुलाई तथा सितंबर अंकों में प्रकाशित 'जर्मीदार का दृष्टांत' (लेखक रैवरेंड जे. न्यूटन, प्रकाशन वर्ष 1871 ई.) तथा 'छली अरब की कथा' (लेखक कोई अनाम ईसाई पादरी, प्रकाशन वर्ष 1893 ई.) कहानियों को हिन्दी की पहली कहानी/कहानियों के रूप में प्रस्तावित किया है।³ किंतु इन कहानियों में उपदेशात्मकता का ऐसा स्वर है कि ये नीति कथाओं के निकट जा पड़ती हैं। ईसाई मिशनरियों ने अपने धर्म-प्रचार के लिए ऐसी कितनी ही कहानियाँ इन कहानियों से भी बहुत पहले लिखी थीं। 1799 ई. में कलकत्ते के निकट श्रीरामपुर में (जो अब कलकत्ते का ही एक उपनगर है) डेनिस मिशन की स्थापना के साथ ही धर्म प्रचार के लिए लिखी जाने वाली ऐसी कथाओं का क्रम प्रारंभ हो जाता है। डॉ. अमिताभ ने सुदर्शन की जिस 'हार की जीत' कहानी पर उसका प्रभाव माना है या उसे बिलकुल अनुकरण ही कह दिया (मुझे एक व्यक्तिगत-पत्र में ऐसा उन्होंने लिखा था), वह कहानी 'छली अरब की कथा' से 'निर्वाह' (ट्रीटमेंट) में बिलकुल अलग है। दूसरे 1871 या 1893 ई. के पश्चात् हिन्दी कहानी का अव्याहत क्रम भी अभी प्रारंभ नहीं हुआ, इसीलिए 'जर्मीदारी का दृष्टांत' या 'छली अरब की कथा' को हिन्दी की प्रथम कहानी नहीं कहा जा सकता।

हिन्दी कहानी के प्रारंभिक इतिहास में राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' के 'राजा भोज का सपना', भारतेंदु हरिश्चंद्र कृत माना जाने वाला 'अद्भुत अपूर्व स्वप्न' तथा राधाचरण गोस्वामी की 'यमलोक की यात्रा' जैसी रचनाओं का भी उल्लेख किया जाता रहा है। वस्तुतः ये रचनाएँ कहानी नहीं हैं, अपितु, कहानी और निबंध के बीच की रचनाएँ हैं। इन्हें स्वप्न-कथा भी नहीं माना जा सकता। प्रसंगात् हम यहाँ यह कहना चाहेंगे कि अधिकांश ग्रंथों में विद्वानों ने 'अद्भुत अपूर्व स्वप्न' को भारतेंदु कृत माना है, जबकि यह भारतेंदु मंडल के ही लेखक बाबू तोताराम का ही निबंध है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में इसे बाबू तोताराम का ही निबंध माना है जो 'हरिश्चंद्र मैगजीन' में छपा था।⁴ शुक्ल जी के अतिरिक्त आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी यह शंका प्रकट की है कि 'राजा भोज का सपना' भी कदाचित् राजा शिवप्रसाद की रचना न हो। "राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' की लिखी बताई जाने वाली कहानी 'राजा भोज का सपना' और भारतेंदु हरिश्चंद्र लिखित समझी जाने वाली कहानी 'अद्भुत अपूर्व स्वप्न' कदाचित् आधुनिकता के लक्षणों से संपन्न मानी जा सकती है।"⁵ फिर पता नहीं कैसे 'अद्भुत अपूर्व स्वप्न' को भारतेंदु की ही रचना माना जाता रहा है। सबसे बाद में लिखे गए डॉ. नगेंद्र संपादित इतिहास तक में यही उल्लेख है। उन्नीसवीं शती के अंत तक हुए ये कथा-प्रसास हिन्दी कहानी के जन्म के लिए महत्त्वपूर्ण पीठिका प्रस्तुत करते हैं।

वस्तुतः आधुनिक हिन्दी कहानी का वास्तविक समारंभ 'सरस्वती' पत्रिका के जन्म, सन् 1900 ई. के वर्ष से ही माना जा सकता है। इसलिए नहीं कि 'सरस्वती' में 1900 ई. में प्रकाशित पं. किशोरीलाल गोस्वामी की 'इंदुमती' ही हिन्दी की पहली कहानी है, अपितु इसलिए कि 'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ ही हिन्दी कहानी अबाध गति के विकास के राजपथ पर चल पड़ी। उसके प्रकाशन के साथ 'छत्तीसगढ़ मित्र', 'सुदर्शन', आदि पत्रिकाओं के माध्यम से कहानी को एक वृहत्तर मंच प्राप्त हुआ और इस विधा के लेखन में विशेष सक्रियता आ गई। हिन्दी की पहली कहानी के रूप में जिन कहानियों का नाम प्रस्तावित किया जाता रहा है, वे मुख्यतः निम्नस्थ हैं

1. 'इंदुमती'	पं. किशोरीलाल गोस्वामी	1900 ई.
2. 'मन की चंचलता'	माधवप्रसाद मिश्र	1900 ई.
3. 'प्लेग की चुड़ैल'	मास्टर भगवानदास	1902 ई.
4. 'ग्यारह वर्ष का समय'	आचार्य रामचंद्र शुक्ल	1903 ई.
5. 'पंडित और पंडितानी'	गिरिजादत्त वाजपेयी	1903 ई.
6. 'दुलाई वाली'	श्रीमती राजेंद्रबाला घोष, बंग महिला	1907 ई.
7. 'ग्राम'	जयशंकर प्रसाद	1910 ई.

इन सभी के विषय में इतिहास और शोध-ग्रंथों में पर्याप्त कहा जा चुका है। हमें केवल यह कहना है कि 'इंदुमती' तथा 'मन की चंचलता' उन्नीसवीं शती के अंत में हुए ऐसे कथा-प्रयत्न हैं जिनमें हिन्दी कहानी का नवीन रूप निश्चय ही दिखाई देने लगता है, किंतु वास्तविक अर्थों में हिन्दी की पहली कहानी बीसवीं शती के प्रारंभ में 1901 ई. में ही आई और तभी से 1901 ई., 1902 ई., 1903 ई. में ऐसी कथा-रचनाएँ आई जो निश्चित रूप से नए ढंग की कहानी या कहेँ आधुनिक कहानी थीं। जिन कहानियों में उपदेशात्मकता, नीति-कथन की बात मिलती है उन्हें एकदम से नकारा नहीं जा सकता, क्योंकि हमारी कहानी का आदर्शवादी स्वर तो बहुत बाद तक रहा है। 1901 ई. में 'छत्तीसगढ़ मित्र' में माधवराव सप्रे की 'एक टोकरी-भर मिट्टी' नामक कहानी ही हमारी दृष्टि में हिन्दी की पहली कहानी है।⁶ अद्यावधि शोध-चर्चाओं में डॉ. बच्चनसिंह ने किशोरीलाल गोस्वामी की 'प्रणयिनी परिणय' (प्रकाशन समय 1887 ई.) को हिन्दी की पहली कहानी घोषित किया है⁷, किंतु इस कथा की प्रस्तुति और प्रेरणा में संस्कृत कथाओं एवं श्लोकों की छाया स्पष्ट ही इसे हिन्दी की मौलिक कहानी का स्वरूप ग्रहण नहीं करने देती। देवीप्रसाद वर्मा माधवराव सप्रे को हिन्दी का प्रथम कहानीकार तो सही सिद्ध करते हैं, किंतु उसी क्रम में 'एक टोकरी-भर मिट्टी' से पहले 1900 ई. में प्रकाशित उनकी 'सुभाषित रत्न' (जनवरी, फरवरी 1900 ई. में) नाम से प्रकाशित दो कहानियों को भी प्रकाशित उनकी कहानी ही मानते हैं।⁸ ये कहानियाँ भी कहानी नहीं, संस्कृत के सुभाषितों को सिद्ध करने के लिए गढ़ी गई कथा भर हैं, उनमें लोक-कथा का रंग भी देखा जा सकता है।

इसलिए हम केवल उनकी 'एक टोकरी-भर मिट्टी' को ही कहानी स्वीकार करना चाहेंगे। देवीप्रसाद वर्मा का 'एक टोकरी-भर मिट्टी' के विषय में यह कथन भी बहुत बड़ी फ तवेबाजी और अत्युक्तिपूर्ण है कि "सातवें दशक में कहानी का जो स्वरूप आज हमारे सम्मुख है, उसके सभी बीज इस कहानी में स्पष्ट हैं...नई कहानी के सबल पक्षधर कमलेश्वर की वाणी किसी सीमा तक प्रस्तुत कहानी में मिलती है।"⁹ ऐसा कहकर पता नहीं देवीप्रसाद वर्मा कमलेश्वर को पीछे खींचना चाहते हैं या माधवराव सप्रे को आगे धर पटकना चाहते हैं। सातवें दशक की हिन्दी की जिस कहानी-विधा को उसकी गुणवत्ता में विश्व-स्तर की कहानी के सम्मुख सगर्व रखा जा रहा है, उसे देवीप्रसाद वर्मा हिन्दी की पहली कहानी में ही बीज रूप में पा रहे हैं। किसी कहानीकार को हिन्दी का प्रथम कहानीकार सिद्ध करने के लिए ऐसे अनुत्तरदायित्वपूर्ण कथनों की आवश्यकता नहीं है। माधवराव सप्रे निश्चय ही उस समय बहुत सक्रिय रूप से लिख रहे थे। 1915 तथा 1916 ई. तक की 'सरस्वती' में उनके कई लेख प्रकाशित हुए थे। इस प्रकार हिन्दी कहानी में उनका ऐतिहासिक महत्त्व है।

किंतु हिन्दी कहानी के प्रारंभिक इतिहास में, अर्थात् 1915-16 तक, कुछ और महत्त्वपूर्ण कहानियाँ और नाम हैं जिनका समुचित उल्लेख नहीं हुआ है। यह चर्चा इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि हिन्दी के कुछ वरेण्य विद्वानों ने हिन्दी कहानी के प्रारंभिक इतिहास में कुछ भयंकर भूलों की हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "किशोरीलाल जी की इस कहानी ('इंदुमती') के पश्चात् कुछ उपदेशमूलक कहानियाँ प्रकाशित हुईं। विद्यानाथ शर्मा की 'विद्या-बहार' और मैथिलीशरण गुप्त की 'निन्धानवे का फेर', ऐसी ही कहानियाँ थीं।" "वृंदावनलाल वर्मा की पहली कहानी 'राखीबंद भाई' 1907 ई. में छपी और मैथिलीशरण गुप्त की 'नकली किला' भी इसी समय प्रकाशित हुई।"¹⁰ किंतु मैथिलीशरण गुप्त की 'निन्धानवे का फेर' तथा 'नकली किला' कहानी हैं ही नहीं, ये तो कविताएँ हैं जिनमें इतिवृत्तात्मक रूप में घटना-प्रसंग तो हैं, किंतु 'कहानी' इन्हें किसी भी दृष्टि से नहीं कहा जा सकता। 'निन्धानवे का फेर' का प्रारंभ इस रूप में होता है, "एक सुंदर ग्राम में था वैश्य एक धनी कहीं।" गुप्त जी जिस प्रकार की कविताएँ उस समय विविध कथा-प्रसंगों पर लिख रहे थे, ये उसी प्रकार की कविताएँ हैं।¹¹ वृंदावनलाल वर्मा की 'राखीबंद भाई' को द्विवेदी जी 1907 ई. में छपी बताते हैं, जबकि यह 1909 ई. की 'सरस्वती' के सितम्बर अंक में प्रकाशित हुई। इसी प्रकार द्विवेदी जी 'इंदु' का प्रकाशन 1911 ई. से हुआ मानते हैं जबकि इसका प्रकाशन 1907 ई. में आरंभ हुआ (कुछ लोगों ने इसका प्रारंभ 1904 ई. में भी लिखा है)।

फिर सन् 1901 ई. के काल-क्रम की ओर लौटने पर 'सुदर्शन' पत्रिका के संपादक पं. माधवप्रसाद मिश्र की 'मन की चंचलता' कहानी पर ध्यान जाता है जो 1901 ई. के 'सुदर्शन' में छपी थी। इसके पश्चात् मास्टर भगवानदास की 'प्लेग की

चुड़ैल' (1902 ई.) का नाम आता है। 'प्लेग की चुड़ैल' कहानी बड़ी सरल और पठनीय है। उसका अंत लोक-प्रचलित धार्मिक कथाओं की तरह होता है "अब ईश्वर की कृपा से जैसे मेरे दिन लौटे हैं वैसे ही सबके लौटें।" कदाचित् इसीलिए इसकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। यही स्थिति 1903 ई. में प्रकाशित 'पंडित और पंडितानी' की भी रही है। इसीलिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल 'इंदुमती' (1900 ई.) के पश्चात् 1903 ई. में प्रकाशित अपनी 'ग्यारह वर्ष का समय' पर ही आकर रुकते हैं। इन सभी कहानियों, 'इंदुमती', 'ग्यारह वर्ष का समय' तथा 'दुलाई वाली' पर बहुत कुछ लिखा गया है। अतः इस पिष्ट-पेषित चर्चा को छोड़ हम आगे बढ़ते हैं।

'सरस्वती' मार्च, 1906 ई. के अंक में सूर्यनारायण दीक्षित ने 'चंद्रहास का अद्भुत उपाख्यान' शीर्षक कहानी लिखी जिसे उन्होंने स्वयं 'जैमिनीपुराण' के आधार पर बताया है, किंतु अपनी प्रस्तुति में यह कहानी शैली की दृष्टि से आधुनिक कहानी के निकट लगती है। बंग महिला की प्रसिद्ध मौलिक कहानी 'दुलाई वाली', 'सरस्वती', मई 1907 ई. के अंक में प्रकाशित हुई थी, किंतु इस मौलिक कहानी को लिखने से पहले बँगला कहानियों के अनुवाद प्रस्तुत करने में वे अपनी भाषा-शैली को मौज रही थीं। इन अनुवादों में भाषा का प्रवाह और कथन-भंगिमा दर्शनीय है। 1906 ई. की 'सरस्वती' के अप्रैल अंक में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'दान-प्रतिदान' तथा इसी वर्ष अपनी माँ श्रीमती नीरदवासिनी घोष की 'हस्तलिखित कहानी' 'कुंभ में छोटी बहू' का वे अत्यंत सुंदर अनुवाद प्रस्तुत करती हैं। जून, 1907 ई. की 'सरस्वती' में गंगाप्रसाद अग्निहोत्री की कहानी 'सचाई का शिखर' प्रकाशित हुई जिसे लेखक ने लोक-कथा पर आधारित कहानी बताया है। इस कहानी का महत्त्व इसलिए भी ज़्यादा है कि यह इससे पूर्व अपने समय के प्रसिद्ध पत्र 'मार्डन रिव्यू' में इसी वर्ष के अप्रैल अंक में 'शेखचिल्ली' नाम से प्रकाशित हुई थी। 'सरस्वती' संपादक का इसे दुबारा प्रकाशित करना ही प्रमाणित करता है कि यह कितनी प्रभावी हास्य कहानी है। वस्तुतः भले ही 'सचाई का शिखर' का आधार लोक-कथा रही हो, किंतु अपनी प्रस्तुति में यह बिलकुल नई है।

वृंदावनलाल वर्मा की कहानी 'राखीबंद भाई' (1909 ई.) को प्रथम ऐतिहासिक कहानी माना जाता रहा है; यह कहानी वृंदावनलाल वर्मा की प्रथम कहानी तो है, किंतु हिन्दी की प्रथम ऐतिहासिक कहानी नहीं। 'सरस्वती' के अक्टूबर 1907 ई. के अंक में लक्ष्मीधर वाजपेई की 'तीक्ष्ण छुरी' नामक कहानी प्रकाशित हुई, निश्चय ही यह ऐतिहासिक कहानी का समारंभ है। इस कहानी में राजपूताने के राठौर वंश की एक घटना को आधार बनाया गया है। कहानीकार स्पष्टतः समय भी बताता है कि यह घटना 1634 ई. की है। यह राठौर राजा गज सिंह के ज्येष्ठ पुत्र उमराव सिंह की कहानी है जो देश-प्रेम, वीरता तथा शौर्य का भाव जगाती है। अपनों के विश्वासघात द्वारा ही हमारे वीरों को पराजय का मुँह देखना पड़ा है, यह इस कहानी का सहज

निष्कर्ष है। शाहजहाँ के दरबार में वीर उमराव सिंह अपने ही साले अर्जुन के विश्वासघात के कारण मारा जाता है। यह कहानी अपने शिल्प, कथा-प्रवाह, औत्सुक्य की रक्षा आदि ऐसे गुणों से भरपूर है जैसी उस युग की ऐतिहासिक कहानियाँ होती थीं। इसे कदाचित् लेख समझकर हिन्दी कहानी की चर्चा में छोड़ दिया गया था, किंतु अपने रूपबंध में यह पूरी तरह कहानी ही है। लक्ष्मीधर वाजपेयी ने 'नाना फड़नवीस' (जून, 1909 ई. 'सरस्वती') पर भी लिखा, किंतु वह लेख-मात्र है, कहानी नहीं। ऐतिहासिक कहानी के क्रम में ही 1907 ई. में 'सरस्वती' के मार्च अंक में 'आख्यायिका' शीर्षक से रामजीलाल शर्मा की कहानी को परिगणित किया जाना चाहिए जिसमें इतिहास के साथ जनश्रुति को भी कहानी का आधार बनाया गया है। इसमें संस्कृत कवि भारवि की कहानी है। इसे भी जनश्रुति पर आधारित ऐतिहासिक कहानी ही माना जाना चाहिए। इसके पश्चात् वृंदावनलाल वर्मा की 'राखीबंद भाई' का स्थान आता है। यह बात सही है कि बाद में वृंदावनलाल वर्मा ही ऐतिहासिक कहानीकार के रूप में प्रख्यात हुए, लक्ष्मीधर वाजपेयी या रामजीलाल शर्मा नहीं। 'सरस्वती' के अक्टूबर, 1910 ई. के अंक के वृंदावनलाल वर्मा की ही 'तातार और वीर राजपूत' कहानी प्रकाशित हुई। इससे पहले के लेखकों में सत्यदेव जी का नाम भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वह इसलिए नहीं कि उन्होंने उस समय बहुत कहानियाँ लिखीं, अपितु इसलिए हैं कि उन्होंने आधुनिक ढंग की कहानी लिखने के लिए दूसरों को प्रेरित किया। सत्यदेव जी शिकागो, अमेरिका में रह रहे थे और वहाँ के जीवन संबंधी परिचयात्मक लेख, यात्रा-विवरण, विभिन्न व्यक्तियों से भेंट के विवरणात्मक लेख निरंतर 'सरस्वती' में प्रकाशित करा रहे थे। कहानी तो केवल उनकी 'कीर्ति कालिमा' को ही कहा जा सकता है जो अगस्त, 1908 ई. की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। यह कहानी भी अमेरिकी जीवन की पृष्ठभूमि पर लिखी गई है। इससे पूर्व उनकी अप्रैल से जून के चार अंकों में (1908 ई. में ही) एक लंबी रचना प्रकाशित हुई 'आश्चर्यजनक घंटी', किंतु इसे कहानी नहीं कहा जा सकता। यह एक लंबा लेख ही है। एक अंक में इस आश्चर्यजनक घंटी का चित्र भी छापा गया है। कहानी के प्रारंभिक उन्नायकों में उनका महत्त्व इस रूप में है कि उन्होंने दूसरे लोगों को आधुनिक ढंग की कहानी लिखने के लिए प्रेरित किया। शिकागो में रहते हुए ही 1909 ई. की 'सरस्वती' में विज्ञापन देकर अपने छात्रों के लिए 'सामाजिक अन्याय' के विषय पर कहानी-प्रतियोगिता का आयोजन किया जिसमें पचास रुपये का स्वर्णपदक उपहार-स्वरूप रखा गया था (ध्यान रहे कि उस समय पचास रुपए कितनी बड़ी चीज थी)। किंतु कोई भी कहानी नहीं पहुँची। केवल एक 'निबंध' प्रदत्त विषय पर किसी छात्रा ने भेजा। किंतु इससे निराश न हो कर, फिर मार्च, 1910 ई. की 'सरस्वती' में उपहार मिलेगा, शीर्षक से उन्होंने विज्ञप्ति दी और 25 मई, 1910 ई. तक कहानियाँ माँगी गईं। अब की बार यह प्रतियोगिता केवल छात्रों के लिए नहीं थी, इस बार कोई

शर्त छात्रा होने की नहीं थी। “जिस किसी का हृदय भारत के सामाजिक अन्याय देखकर द्रवीभूत हुआ हो, वही लेखनी उठाए और एक मर्मभेदी कथा लिख डाले। कथा छः हजार शब्दों से कम और आठ हज़ार से अधिक न हो और वाक्य आम बोलचाल के हों।” आगे इसी विज्ञप्ति में यह भी कहा गया ‘छोटी कथा’ के संबंध में इतना बतला देना जरूरी है कि जैसी ‘मार्डन रिव्यू’ में कथाएँ प्रत्येक अंक में छपा करती हैं, वैसी हों।” हिन्दी कहानी-इतिहास के अध्येता के लिए यह बहुत महत्वपूर्ण टिप्पणी है। इससे कहानी के संबंध में उस समय की युग-रुचि का पता चलता है। ध्यातव्य है कि हिन्दी कहानी में अभी प्रेमचंद नहीं आए थे, किंतु उनसे पूर्व ही ‘सामाजिक अन्याय’ जैसे विषय पर संक्षिप्त-सी (शब्द-सीमा दे दी गई है) और ‘आम बोलचाल’ की भाषा में कहानी की माँग की गई है। साथ ही एक सूत्र और मिलता है कि जैसी कहानियाँ ‘मार्डन रिव्यू’ के प्रत्येक अंक में छपती हैं। ‘मार्डन रिव्यू’ के अंकों की फाइल देखने का सुयोग अभी हमें नहीं मिल सका है, किंतु ऐसा लगता है कि उसमें हिन्दी की कुछ महत्वपूर्ण प्रारंभिक कहानियाँ उपलब्ध हो सकती हैं।

1910 ई. हिन्दी कहानी के प्रारंभिक इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण वर्ष है। इस वर्ष काशी से प्रकाशित ‘इंदु’ के अगस्त अंक (कला-1, किरण-2, भाद्र 1967 वि.) में जयशंकर प्रसाद की पहली कहानी ‘ग्राम’ प्रकाशित हुई, जिसे हिन्दी की पहली कहानी का गौरव भी कुछ लोगों द्वारा दिया गया। हिन्दी कहानी में प्रसाद का आगमन एक धारा का प्रवर्तन करता है, जिसे ‘प्रसाद संस्थान’ (प्रसाद स्कूल) की कहानी कहा जाता है; इसे वैयक्तिक रोमानी या भावात्मक कहानी-धारा भी कहा गया। ‘ग्राम’ भले ही हिन्दी की प्रथम कहानी न हो, किंतु समस्त हिन्दी कहानी के इतिहास में और प्रसाद की अपनी कहानियों में भी यह ऐसा मील-स्तम्भ है जिसे अनदेखा कर आगे नहीं बढ़ा जा सकता है। इस प्रथम कहानी में ही प्रसाद का कहानीकार उस समय के अनुरूप पर्याप्त परिपक्वता के साथ सामने आता है। इतनी परिपक्वता के साथ कि उनके दूसरे संग्रह ‘प्रतिध्वनि’ में भी वह परिपक्वता नहीं है। कहानी की भाषा-शैली भी अनेक स्थानों पर ऐसे जीवनगंधी संस्कार लिए हुए है जो प्रसाद की बाद की कहानियों में अलभ्य हो गए हैं। बाद में कलात्मकता के आग्रह से प्रसाद अपने को कहानी की भाषा से अलग करते चले जाते हैं; काव्यात्मक मधु-वेष्टन की प्रवृत्ति उनमें बढ़ जाती है। वैयक्तिक रोमान की धारा से हटकर ‘ग्राम’ का कथ्य भी सामाजिक संपृक्ति का है। 1912 ई. में प्रसाद जी की दूसरी कहानी ‘रसिया बालम’ प्रकाशित होती है और इसी वर्ष (1912 ई. में) हिन्दी का पहला कहानी-संग्रह ‘छाया’ भी उन्हीं का है।

1911 ई. में शिवपूजन सहाय की ‘हठी भगत जी’ कहानी के प्रकाशन का उल्लेख भी मिलता है। 1913 ई. में ‘इंदु’ में राधिकारमण प्रसाद सिंह की प्रसिद्ध कहानी ‘कानों में कंगना’ प्रकाशित हुई। यह प्रसादीय शैली में भावुकता के धरातल पर प्रेम-चित्रण की बड़ी महत्वपूर्ण कहानी है। कहानी-कला की दृष्टि से 1913 ई. में

प्रकाशित इस कहानी का अत्यंत विशिष्ट स्थान है। कथ्य और प्रस्तुति, दोनों दृष्टियों से यह कहानी हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। ध्यातव्य है कि अभी हिन्दी में प्रेम चित्रण की अनोखी कहानी ‘उसने कहा था’ (गुलेरी) प्रकाशित नहीं हुई थी। प्रेमचंद भी हिन्दी कहानी में अभी नहीं आए थे। प्रसाद जी की भी अभी प्रारंभिक कहानियाँ ही प्रकाशित हो रही थीं। इस कहानी की कथा-संगठन अत्यंत सगुणित, सुगठित और अभिव्यक्ति रोमानी-बोध युक्त होते हुए भी अत्यंत सहज, प्रभावपूर्ण और नाटकीय है। अतीत गौरव, प्राकृतिक सुषमा, आदि का अत्यंत रसपूर्ण चित्रण कहानी में प्राप्त होता है, जिससे पाठक आद्योपांत कथा-रस में डूबा रहता है। कहानी में उपमानों की छटा भी अपनी एक नई धज लिए हुए है। मई, 1913 ई. की ‘इंदु’ में ही पं. पारसनाथ त्रिपाठी की ‘सुख की मौत’ कहानी प्रकाशित हुई, जिसने इस परम्परा को और पुष्ट किया। हास्य कहानियों के क्षेत्र में गंगाप्रसाद श्रीवास्तव की प्रथम कहानी (1910-11 ई. में, ठीक रचना-वर्ष इसलिए नहीं दिया जा सकता है कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इसका प्रकाशन-वर्ष ‘ग्राम’ का ही देते हैं, ‘ग्राम’ का प्रकाशन वर्ष द्विवेदी जी 1911 ई. ही देते हैं जबकि इसका प्रकाशन-वर्ष 1910 ई. में हुआ, हास्यरस की इस प्रथम कहानी का उल्लेख उन्होंने ही अपने इतिहास में किया है) ‘पिकनिक’ प्रकाशित हुई। सन् 1911 ई. में ‘भारत मित्र’ में पं. चंद्रधर शर्मा गुलेरी की प्रथम कहानी ‘सुखमय जीवन’ प्रकाशित हुई।

सन् 1914 ई. हिन्दी कहानी के इतिहास में इसलिए महत्वपूर्ण वर्ष है कि इस वर्ष हिन्दी कहानी के पुरोध प्रेमचंद की प्रथम कहानी ‘परीक्षा’, ‘प्रताप’ के विजयदशमी अंक में प्रकाशित हुई थी। यद्यपि हिन्दी में प्रकाशित उनकी प्रथम कहानी के रूप में ‘मौत’ (दिसम्बर, 1915) तथा ‘पंच परमेश्वर’ (1916) के नाम लिए जाते रहे हैं, किंतु नवीनतम शोध के प्रकाशन से यह स्थापित हो चुका है कि प्रेमचंद की प्रथम हिन्दी कहानी 1914 ई. में ही प्रकाशित हुई।

हिन्दी कहानी के इतिहास में 1915 ई. का वर्ष अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह वर्ष दो बातों के लिए हिन्दी कहानी अविस्मरणीय है। प्रथम, इस वर्ष ही जून 1915 ई. की ‘सरस्वती’ में पं. चंद्रधर शर्मा गुलेरी की कालजयी कहानी ‘उसने कहा था’ प्रकाशित हुई, दूसरे इसी वर्ष ‘सरस्वती’ के दिसंबर अंक में प्रेमचंद की कहानी ‘सौत’ प्रकाशित हुई। ‘उसने कहा था’ के विषय में बहुत कुछ कहा जा चुका है, यहाँ इतना ही कहना अलम होगा कि हिन्दी कहानी अथवा भारतीय भाषाओं की कहानी के इतिहास में ही नहीं अपितु विश्व-कथा के इतिहास में कदाचित् ही कोई ऐसा दूसरा कहानीकार हुआ हो जिसे अपनी एक ही कहानी के बल पर इतनी ख्याति मिली हो। हिन्दी में तो अपने जन्म से लेकर आज तक यह कहानी उतने की चाव से पढ़ी जाती है, उसकी यश-काया पर काल की वात का कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। कथ्य, शैली-शिल्प, भाषा-संस्कार, सभी दृष्टियों से यह कहानी बेजोड़ है। हिन्दी कहानी में प्रेमचंद एक

युग-पुरुष के रूप में आते हैं। हिन्दी में आने से पहले प्रेमचंद उर्दू में पर्याप्त चर्चा पा चुके थे। हिन्दी में 1914 ई. में उनकी 'परीक्षा' तथा 1915 ई. की 'सरस्वती' के दिसंबर अंक में 'सौत' प्रकाशित हो जाती हैं, किन्तु उन्हें वास्तविक मान्यता और प्रसिद्धि 1916 ई. की 'सरस्वती' के जून अंक में प्रकाशित कहानी 'पंच परमेश्वर' से ही प्राप्त हुई, यद्यपि इससे पूर्व 1916 ई. की 'सरस्वती' के ही मार्च अंक में उनकी कहानी 'सज्जनता का दंड' प्रकाशित हो चुकी थी। इस प्रकार 1916 से हिन्दी में प्रेमचंद की कहानियों का अटूट क्रम चल निकला, तभी से हम वास्तविक अर्थों में कहानी का 'प्रेमचंद युग' मान सकते हैं। 'पंच परमेश्वर' के प्रकाशित होते ही हिन्दी ने प्रेमचंद को और प्रेमचंद ने हिन्दी को अपना लिया। प्रेमचंद ने हिन्दी कहानी को विकास के राजपथ पर अग्रसर कर दिया और स्वयं उसके ऐसे प्रकाश-स्तंभ बने जिनसे आज भी हिन्दी कहानी दिशा लेती है। अनेक आंदोलनों की आँधी जब-जब थमी है, कहानी ने पीछे मुड़कर प्रेमचंद की ओर देखा है। हिन्दी कहानी को सामाजिक सरोकारों से जोड़ना प्रेमचंद का बहुत बड़ा दाय है। अब वह राजन्य वर्ग या अलौकिक चरित्रों की बात न कर, सामान्य मनुष्य की बात करने लगी और वह मेरी-तेरी, उसकी-सबकी बात कहने लगी। कहानी को युग के ज्वलंत प्रश्नों और चिंताओं से जूझना प्रेमचंद ने ही सिखाया। 1915 ई. के वर्ष में ही 'दुलाई वाली' की प्रसिद्ध रचनाकार 'बंग महिला' की 'हृदय-परीक्षा' नामक 'सरस्वती' के अगस्त अंक में प्रकाशित मौलिक कहानी है। 1915 ई. में ही विशम्भरनाथ जिज्जा की 'विदीर्ण हृदय' कहानी प्रकाशित हुई। 1916 ई. में प्रेमचंद की 'शंखनाद' कहानी भी प्रकाशित हुई थी। 1916 ई. का वर्ष प्रेमचंद की 'पंच परमेश्वर' के कारण ही महत्वपूर्ण नहीं है अपितु इस वर्ष कई महत्वपूर्ण कहानीकार और कहानियाँ प्रकाश में आईं। विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक की प्रथम कहानी 'रक्षा-बंधन' अक्टूबर 1916 ई. की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। 1915-16 ई. में पं. ज्वालादत्त शर्मा हिन्दी कहानी में आते हैं। 1916 ई. की 'सरस्वती' में लगातार उनकी कहानियाँ आई हैं। फरवरी अंक में 'अनाथ बालिका', अगस्त अंक में 'विरक्त विज्ञानानंद', सितम्बर अंक में 'मिहनताना', नवम्बर अंक में 'स्वामी जी' तथा दिसंबर अंक में 'विधवा'। निश्चय ही वे उस समय के महत्वपूर्ण कहानी लेखक हैं। पदुमलाल पुन्नलाल बख्शी की 'झलमला' कहानी नम्बर, 1916 ई. की 'सरस्वती' में 'आख्यायिका' शीर्षक से प्रकाशित हुई। यह कहानी प्रेम-चित्राण की कहानी है। 'मैं' शैली में लिखित इस कहानी में भाभी के प्रेम की एक टीस-सी देवर के मन में रह जाती है, क्योंकि स्मृति-चिह्न के रूप में भाभी ने उसका 'झलमला' एक रेशमी रूमाल में बाँध कर रखा था। इस समय (1916 ई.) के पश्चात् तो हिन्दी कहानी का क्रम बड़ा तेजी से चल पड़ा।

वस्तुतः प्रेमचंद-पूर्व युग हिन्दी कहानी का शैशव काल है। इस काल की कहानी एक ओर अपने को अंगरेजी, बंगला और संस्कृत कथाओं के प्रभाव मुक्त करती है

तो दूसरी ओर अपनी एक नई राह बनाने का भी उपक्रम करती है। प्रारंभिक कहानियों में यदि कथ्य और शिल्प के स्तर पर एक अपरिपक्वता भी है तो दूसरी ओर प्रसाद, गुलेरी तथा प्रेमचंद तक आते-आते, 'ग्राम', 'कानों में कंगना', 'उसने कहा था', 'सौत', 'पंच परमेश्वर' जैसी परिपक्व और समृद्ध कहानियाँ भी मिलती हैं। प्रारंभिक युग में अपने शैशव के कच्चेपन से निकलकर कहानी अपने यौवन की पुष्टता को पाने लगती है। जीवन का यथार्थ अपनी संपूर्ण विद्रूपताओं में चित्रित होने लगता है, किंतु उनका समाधान आदर्श के रूप में ही कहानी में आता है। कहानी बाह्य घटनाओं के चित्राण एवं कौतूहल-वृत्ति से आगे बढ़कर मानवीय चरित्रों के विश्लेषण में भी इस समय प्रवृत्त होने लगती है। द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता और नैतिकता का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में कहानी पर भी पड़ा है और 'सरस्वती' संपादक पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस युग की हिन्दी कहानी का मिजाज और मुहावरा भी निश्चित किया है।

सन्दर्भ

1. "इंशा अल्ला खाँ ने 'उदयभानचरित' या 'रानी केतकी की कहानी' संवत् 1855 और 1860 के बीच लिखी होगी।" आचार्य रामचंद्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ 396 (संस्करण पंद्रहवाँ)।
2. "...सन् 1850-1900 और कुछ उसके बाद तक कथा-साहित्य (फिक्शन) को उपन्यास कहने का चलन था। सन् 1900 में 'सरस्वती' में छपी कहानी (अर्थात् 'इंदुमती') को भी उन्होंने उपन्यास कहकर ही छपा है।...सरस्वती' के हीरक जयंती विशेषांक में बालकृष्ण भट्ट के 'नूतन ब्रह्मचारी' को कहानी कहा गया है, जबकि लोग उसे उपन्यास कहते हैं।" डॉ. बच्चन सिंह, 'सारिका', दिसंबर 1976 ई.।
3. द्रष्टव्य 'संचेतना' 1952, 'हिन्दी की पहली मौलिक कहानी 'इसाई' (दिसंबर 1979, मार्च 1980) मिशनरियों द्वारा लिखी गई।
4. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 439।
5. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ 423 (संस्करण 1952)।
6. देवीप्रसाद वर्मा, 'सारिका', फरवरी 1968 अंक।
7. डॉ. बच्चनसिंह, 'सारिका', दिसंबर 1976 अंक।
8. प्रसंगात् यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि जनवरी 1977 ई. की 'सारिका' में 'स्व. माधवराय सप्रे की कथा-यात्रा' शीर्षक लेख में कई जगह 'एक टोकरी-भर मिट्टी' को कदाचित् प्रेस-भूल के कारण एक टोकनी भर मिट्टी' लिखा गया है, किंतु कुछ पुस्तकों में 'टोकनी भर' ही उद्धृत किया गया, जो गलत है।
9. 'सारिका', दिसम्बर 1976 अंक।
10. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 424 तथा 425।
11. द्रष्टव्य 'सरस्वती', सितम्बर, 1910 ई.।

‘रेणु’ के उपन्यास : पुनर्मूल्यांकन

ब्रजकिशोर झा*

फणीश्वरनाथ रेणु लेखन की ओर प्रवृत्त होने से पूर्व, राजनीतिक कार्यकर्ता थे। उनकी राजनीतिक सक्रियता स्वदेश तक ही सीमित नहीं रही, पड़ोसी देश नेपाल के राजनीतिक आंदोलनों से भी उनका गहरा लगाव रहा। मधुकर सिंह को दिए इंटरव्यू में रेणु ने स्वीकारा है कि राजनीतिक तो सदा उनके लिए “दाल-भात की तरह” रही है।¹ किसी औपन्यासिक कृति का आंचलिक होना उसके राजनीति न होने का प्रमाण नहीं हो सकता, “अंचलों की सीमा में बँधकर जो उपन्यास राजनीति की चर्चा करते हैं, वे आंचलिक-राजनीतिक उपन्यास कहलाते हैं।”²

इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि ‘आंचलिक’ शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख करने वाले व्यक्ति श्री फणीश्वरनाथ रेणु ही थे, जिन्होंने ‘मैला आंचल’ की भूमिका में लिखा था, “यह है ‘मैला आंचल’, एक आंचलिक उपन्यास।”³ परंतु यही रेणु बाद में लिखते हैं, “जब मैला आंचल मैंने लिखा और जब उसका भीतर का टाइटल छपने को जा रहा था तब मैंने लिखा मैला आंचल और फिर मैंने उसके नीचे लिख दिया ‘एक आंचलिक उपन्यास’। मैंने ऐसा यही सोचकर किया कि मैंने जिन शब्दों का इस्तेमाल किया, जैसी भाषा लिखी, क्या पता उसको लोग कबूल करेंगे या नहीं करेंगे...बाद के लोगों ने एक खांचा बना दिया ‘आंचलिक’ का।”⁴ आगे वे कहते हैं, “राजनीतिक पार्टी का सदस्य न होकर भी आदमी राजनीति कर सकता है, यह बात लोगों के दिमाग में अँटेगी भी नहीं। मेरी रचनाएँ, खासकर ‘मैला आँचल’, ‘परती परिकथा’, ‘दीर्घतपा’, ‘जुलूस’, ‘कितने चौराहे’ सभी राजनीतिक समस्याओं और विचारों के ही प्रतिफल हैं।”⁵ दरअसल कुछ आलोचकों ने ‘आंचलिकता’ के नाम पर रेणु के उपन्यासों का सही मूल्यांकन तक नहीं होने दिया है। रेणु ने ठीक ही कहा है कि “तो चलो, आंचलिक उपन्यासकार। जैसे कि आंचलिक उपन्यासकार को आदमी से तो कुछ लेना-देना नहीं है, समस्याओं से कुछ लेना-देना नहीं है।”⁶ हम उपन्यासकार के इन शब्दों का समर्थन

पता : 3ए एलाईट एन्क्लेव, कोलकाता-700079. फोन 09088585841

E-mail: braj.phd@gmail.com

करते हैं, “मैंने राजनीति नहीं छोड़ी। दलगत राजनीति और सक्रिय राजनीति से अवश्य अलग हो गया! अपने राजनीतिक दिनों के अनुभव को ही मैंने उपन्यासों और कहानियों में सहेजा, समेटा।”⁷ वस्तुतः लेखक ने अपने उपन्यास और कहानियों का सारा कच्चा-माल अपने राजनीतिक जीवन से ही लिया है, जो कि उनके उपन्यासों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है।

डॉ. हरिकृष्ण कौल ने ठीक ही कहा है, “फणीश्वरनाथ रेणु के साथ चिपका ‘आंचलिक’ लेबल उनके सही मूल्यांकन में बाधा बन गया है। उनके विषय में जिस आंचलिकता का जोर से ढोल पीटा जा रहा है, उसे मैं स्थानीय रंग के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानता। इस स्थानीय रंग का उपयोग न्यूनाधिक मात्रा में सभी यथार्थवादी कथाकार अपनी बात को एक प्रामाणिक सन्दर्भ देने के लिए करते आए हैं।”⁸ डॉ. खगेंद्र ठाकुर के अनुसार, “रेणु सक्रिय राजनीतिक से अलग हो गए, इसका असर रचना पर भी है, लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि मानसिक रूप से रेणु राजनीति से कभी अलग नहीं हुए और उनकी चेतना में अंत तक राजनीति का सोशललिष्ट चरित्र ही कायम रहा, बावजूद इसके रेणु समझते थे कि सोशललिष्ट चरित्रवाली राजनीति पूँजीवादी विरोधी और समाजवादी पक्षीय नहीं होती।”⁹

राजनीतिक उपन्यास को लेकर सर्वप्रथम उल्लेखनीय ग्रंथ ‘Politics and the Novel’ की रचना करने वाले इर्विन हो (Irving Howe) का मतव्य है “एक राजनीतिक उपन्यास से मेरा अभिप्रायता एक ऐसे उपन्यास से है जिसमें राजनीतिक भावादश सक्रियता ग्रहण करती हों अथवा जिसमें राजनीतिक घटनावली ही प्रधान विषय-वस्तु हो उठे।”^{9a} यहाँ रेणु के सभी छः उपन्यासों को अति-संक्षेप में सारगर्भित रूप से समझने की कोशिश गयी है और यह देखा गया है कि क्या उनके सभी उपन्यास राजनीतिक उपन्यास की कसौटी पर खरे उतरते हैं।

मैला आँचल

‘मैला आँचल’ (1953, समता प्रकाशन, पटना) रेणु का पहला उपन्यास है, जिसमें पहला खण्ड स्वाधीनता आंदोलन के अंतिम खण्ड को घेरता है और दूसरे खण्ड के शुरू में ही संकेत है कि ‘सुराज’ 15 तारीख (1947) को मिल जाने वाला है। अर्थात् आजादी के प्रसव काल से आरंभ होकर, स्वाधीनता प्राप्ति और उसके बाद की घटना, गांधी जी की हत्या पर आकर खत्म होती है। कथा-क्षेत्र उत्तर बिहार के पूर्णिया जिले का एक पिछड़ा गाँव मेरीगंज है, जिसे भारतीय गाँव का प्रतीक माना जा सकता है। यहाँ सुराजी, गांधीवादी, कांग्रेसी, सोशललिष्ट, लीगी और जनसंघी सभी हैं; और देश की सारी राजनीतिक घटनाओं का प्रतिफल यहाँ देते दिखाकर गागर में सागर भरने का प्रयास किया गया है, “कुल मिलाकर तत्कालीन राजनीतिक परिवेश का वह सब कुछ इस अंचल की राजनीति में वर्तमान है और इसे रेणु ने समस्त मानवीय खूबियों और खामियों के साथ ‘मैला आँचल’ में प्रस्तुत करके उस अंचल के यथार्थ को मूर्त कर

दिया।”¹⁰ सन् 1920, 1930, 1942 के आंदोलनों से अछूता रहकर भी यह गाँव उसकी याद को बनाए हुए है।

इस कालखण्ड में सिर्फ मेरीगंज ही नहीं वरन् संपूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप आंदोलनों के नए सन्दर्भ में परिचालित जनगण है, इसी में राष्ट्रीय जनतन्त्र के पुनर्गठन का प्रश्न भी शामिल है, और सभी का आम लक्ष्य स्वतन्त्रता ही है। स्वाधीनता प्राप्ति के साथ-साथ आम लोगों को समस्याओं और सीमाओं का सामना करना पड़ा, जिसने उनकी राजनीतिक चेतना में भी बदलाव आने शुरू हो गए। गुलामी से अधिक स्वाधीनता की स्थिति वीभत्स है। ‘मैला आँचल’ राजनीतिक चेतना के आंतर्य का एक तीखा और प्रौढ़ उपन्यास है, जो संपूर्ण राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्विरोध और जनता के बीच के अंतर्विरोध के द्वन्द्व का परिणाम है। जनता के बीच में ये राजनीतिक अंतर्विरोध एक राष्ट्रीय इतिहास की मंजिलों को पार करते हैं या नहीं, यह दूसरा सवाल है; पर राष्ट्रीय इतिहास की एक नई शुरुआत के लिए तो इन्हें समकालीन मानना पड़ेगा। गाँवों में वामपंथी शक्तियों के प्रवेश का प्रारंभ 1930 के आस-पास प्रारंभ होता है और उनका प्रभाव भी गाँव में दिखाई पड़ने लगता है। अगले बीस वर्षों में ‘किसान आंदोलन’ की लहर सारे देश में फैलती है। 1939 में ‘अखिल भारतीय किसान सभा’ का राष्ट्रीय गठन अलग पहचान बनाता है। 1946 में सोशलिस्ट पार्टी बनती है और गाँव में इसका प्रवेश क्रांतिकारी रूप में स्वीकार किया जाता है।

दरअसल पार्टियाँ चाहे जिस रूप में सक्रिय हों, ‘मैला आँचल’ के गाँव की राजनीति में विविधता की शुरुआत हो जाती है। कांग्रेस के अतिरिक्त स्थानीय विकल्प पैदा हो जाते हैं, और इन स्थानीय विकल्पों का उत्पन्न होना, इनकी इकाइयों का संयोजन भारतीय राजनीति के इतिहास में एक समकालीन घटना के रूप में देखी जा सकती है। शहर की राजनीति से ही गाँव की राजनीति प्रभावित होती है। स्वाधीनता के साथ नए सेतुधर्मी तत्त्वों का जन्म गाँव को शहर से जोड़ने का कार्य करता है। ‘सड़क’ से लेकर ‘पंचवर्षीय’ योजनाओं तक ने शहर से गाँव में नए राजनीतिक चेतना के साथ प्रवेश किया। जंगल तक पर सरकार का नियंत्रण शुरू होने लगा। इस प्रकार शहर के चौतरफे हमले से गाँव की जड़ता टूट गई। गाँव में रोज नए-नए सेंटर खुल रहे हैं, गाँधीवादी चेतना ग्रामीणों को आंदोलित कर रही है, “गाँव में तो रोज नया-नया सेंटर खुल रहा है मलरिया-सेंटर, काली-टोपी संटर, लाल झंडा संटर, और तब यह चरखा संटर!”¹¹ ...“चरखा हमार भतार-पूत, चरखा हमार नाती; चरखा के बदौलत मोरा दुआरे झूले हाथी।”...चरखा की बदौलत हाथी! जै...गाँधीजी की जै!”¹²

जनता की सामान्य विचारधारा का नया संयोजन इसी क्रम में धीरे-धीरे किंतु दृढ़ता के साथ होता है। सोशलिस्ट पार्टी की सभा होती है। इसकी खबर ने संथाल टोली को विशेष रूप से आलोड़ित किया है। समाज के सबसे पिछड़े और प्रायः बाहरी हिस्से को इस खबर ने इतना आलोड़ित क्यों किया है? वस्तुतः इस सभा में ऐसा क्या

है? इसका उत्तर है, “जमीन जोतने वालों की!”¹³ इसी नारे ने इस आदिवासी समाज को, उनके सामाजिक अस्तित्व को घोषणा प्रदान की है। मुद्दत से उलझी गुथी का सही सुलझाव। गाँव-गाँव में लाल झण्डे की लहर व्याप्त हो गई, “किसान राज कायम हो! मजदूर राज कायम हो!” वस्तुतः मैला आँचल में संथालों में विकसित हो रही राजनीतिक चेतना का प्रबल चित्रण हुआ है।

स्वाधीनता के साथ ही जनता के मन में व्यवस्था की एक नई तस्वीर पैदा हो गई थी। अब अपने लोगों के शासन में आ जाने से जनता में एक नई आशा बँधी थी। मगर जनता को यह लग गया कि आजादी की लड़ाई अभी खत्म नहीं हुई है; व्यवस्था ही बदलाव था, यथार्थ नहीं। ‘जनता की व्यवस्था’ जनता से निरंतर अलग होती चली जा रही थी, अंतर्विरोध बहुत ही स्वाभाविक रूप से सामने आने लगा। उपन्यास में देखा जा सकता है कि राजनीति की विकृत स्थिति को देखकर राजनीतिक दृष्टि से सजग व्यक्ति 15 अगस्त, 1947 ई. को प्राप्त आजादी को सच्ची आजादी नहीं मानता है, तथा मेरीगंज के स्वराज्योत्सव के जुलूस में ‘हिंगना-औराही’ का एक समाजवादी नारा लगाता है, “यह आजादी झूठी है, देश की जनता भूखी है” यह समाजवादी व्यक्ति और नहीं; स्वयं लेखक है जो अपने जन्म-स्थान ‘हिंगना-औराही’ से मेरीगंज आ पहुँचा है। राजनीतिज्ञ रेणु की निजी सहानुभूति समाजवाद के साथ होते हुए भी उपन्यासकार रेणु ने हर पात्र को और साथ ही उस पात्र में प्रकट होने के लिए प्रयास करते किसी राजनीतिक मतवाद को योग्य स्थान पर रखा है।

उपन्यास में औपनिवेशिक राजनीति की परत भी है, जिसमें सामंती शोषण को नए आयाम प्रदान करने के साथ दोनों के मन में शासन के भय की गहरी प्रतिष्ठा की है। तीसरी धारा ‘स्वाधीनता आंदोलन’ की है जिसमें गाँधीवादी, आतंकवादी या क्रांतिकारी और संप्रदायवादी धाराएँ घुली-मिली हैं। इसने राष्ट्र-निर्माण के प्रति चेतना पैदा की। सांप्रदायिक राजनीति भी अपने घुसपैठ बनाने की कोशिश करती है। चौथी धारा समाजवादी क्रांति का लक्ष्य लेकर चलने वाली राजनीति की है, जो एकबारगी भेद-मूलक समाज को बनाएँ रखने में सन्नद्ध शक्तियों को चुनौती देती है। मेरीगंज में सामंती राजनीति तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद के माध्यम से आई है; कांग्रेसी-गाँधीवादी राजनीति के प्रस्तावक-प्रचारक बालदेव एवं वामनदास हैं और समाजवादी राजनीति की बागडोर कालीचरन के हाथ में है। इन विभिन्न राजनीतिक परतों और धाराओं के घात-प्रतिघात की धमक का चित्रण जीवन के निचले स्तर पर भी हुआ है। यह एक राजनीतिक उपन्यास है और हम प्रेम सिंह के इस अभिमत से सहमत हैं कि “‘मैला आँचल’ सारगर्भित रूप में एक राजनैतिक उपन्यास है। इस कृति में साहित्यकार और राजनैतिक अथवा साहित्य और राजनीति के जटिल रिश्ते का सृजनात्मक निर्वाह हिन्दी उपन्यास की एक उपलब्धि है।”¹⁴

परती : परिकथा

रेणु का यह उपन्यास सन् 1957 ई. में पहली बार प्रकाशित हुआ था और इस उपन्यास का कालखण्ड 1955-56 ई. का है। वैसे इस उपन्यास में कुछ निश्चित तारीखें भी दी गई हैं, यथा 8 जुलाई शुक्रवार सन् 1955 को नायक जित्तन ने परती को तोड़ने का शुभारंभ किया; 12 तारीख को कोसी प्रोजेक्ट की पहली मालगाड़ी आने का उल्लेख है। वस्तुतः इससे लेखक के युगचेतन होने का सशक्त प्रमाण मिलता है। इस उपन्यास में 'रेणु' ने स्वाधीन भारत की जनतांत्रिक-राजनीतिक चेतना को सन्दर्भित करते हुए नवनिर्माण की कथा को दो परिवर्तों में पूरा किया है। परती परिकथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के विकास और निर्माण की कथा है। इसमें स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद जमींदारी उन्मूलन और भूमि के पुनर्विभाजन की पृष्ठभूमि पर परानपुर के ग्राम्य जीवन की कथा का सुंदर चित्रण किया गया है, जिसमें युगीन समस्याएँ हैं। रेणु ने लिखा है, "हिन्दुस्तान में संभवतः सबसे पहले पूर्णिया जिले में ही 'लैण्ड सर्वे ऑपरेशन' किया गया। जिले के जमींदारों और राजाओं की जमींदारियों का विनाश अवश्य हुआ है किंतु हिन्दुस्तान के सबसे बड़े किसान यहीं बसते हैं।"¹⁵

उचित प्रबोधन के अभाव के कारण पूर्णिया जिले के सृजन को सुफल बनाने, कोसी योजना का विरोध करने के लिए अनेक गाँवों के लोग परानपुर में इकट्ठे हो जाते हैं। यह जो विरोध हो रहा है इसके लिए सरकार की पुराने तर्ज पर कार्य करने वाली मशीनरी जिम्मेदार है। वस्तुतः अगर जनता सामाजिक विकास के कार्यों में दिलचस्पी लेने लगे तो, नौकरशाही के कल-पुर्जों की मनमानी, भ्रष्टाचार कैसे चलेगी; एक कप चाय पीने के लिए वे तीन गैलन तेल जलाकर शहर नहीं जा सकेंगे। सीमेंट की चोर बाजारी नहीं कर सकेंगे। नदियों पर बिना पुल बनाए ही कागज पर पुल बनाकर बाद में पुल के बह जाने की रिपोर्ट नहीं दे सकेंगे।

हर गाँव में ऐसे ही किसानों का राज है, और भूमिहीनों की विशाल जमात दिशाहीन भटकने को बाध्य है। इस जमात की जगती हुई राजनीतिक चेतना का दिशा-निर्देश करने का कार्य राजनीतिक दलों और नेताओं का था। प्रत्येक राजनीतिक दल की शाखा परानपुर में है, "...पण्डित नेहरू तीन बार पदार्पण कर चुके हैं इस गाँव में। लाहौर कांग्रेस के बाद पहली बार, दूसरी बार 1936 में चुनाव के दौरे पर और पिछले साल कोसी प्रोजेक्ट देखने आए थे जब।..." "कचहरी देश-सेवकों की, समाज-सेवकों की। कांग्रेसी, समाजवादी, कम्युनिस्ट सभी पार्टीवालों ने अपनी बाहरी वर्कर मँगाए हैं। गाँव की बात उनके अपने ही परिवार के अन्य सदस्य नहीं मानते। बहुत से वर्करों का ट्रायल हुआ, होनेवाला है। सेवकों के सेवाओं की परख हो रही। अभी पार्टी के कार्यकर्ता सतर्क हैं, सचेष्ट हैं, बँटाईदारी करने वालों के नाम पर्चा दिलवाने का व्यापार बड़ा टेढ़ा है।"¹⁶ पिछले आम चुनावों में सॉलिड वोट कांग्रेस को नहीं मिला, इसलिए इस बार सॉलिड वोट प्राप्त करने के लिए हर पार्टी की शाखा प्रत्येक मास अपनी बैठक

में महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास करती है। पिछले आठ-दस वर्षों में जातिवाद ने काफी जोर पकड़ा है। राजनीतिक पार्टियाँ भी जातिवाद की सहायता से संगठन करना जायज समझती हैं। राजनीति के दंगल में सब कुछ माफ है।¹⁷

जनता के तथाकथित नेता बेहद मौका-परस्त बन गए हैं। स्वाधीनता से पाँच दिन पहले तक कांग्रेसी मुसलमानों को मक्कार और गद्दार कहने वाला मीर समसुद्दीन बाद में, "स्थानीय राजनीतिक दलों के बाजार का बिना बिका हुआ कीमती सौदा" बन जाता है। स्थानीय कांग्रेसी का नेता भले ही जाहिल है लेकिन वह असल राजनीतिक लंगीबाज है, वह समसुद्दीन के कांग्रेस प्रवेश की समस्या को चोर चाबी का इस्तेमाल कर बड़ी सफाई के साथ हल कर डालता है। वह लहरों को गिनकर चाँदी काटने वाले सरकारी कर्मचारियों से किसी प्रकार भी कम नहीं है। उसने भी कांग्रेस का चंदा वसूलकर पचा डाला है, "आज के राजनीतिक दलों की स्खलित स्थिति का चित्रण भी 'परिकथा' में मिलता है। गाँव में प्रमुखतः तीन राजनीतिक दल हैं, समाजवादी, कांग्रेस, कम्युनिस्ट। इन दलों के नेता महामूर्ख हैं। लुत्तो हमेशा राजनीतिक लंगी ही लगाता रहता है, वह स्वार्थ साधक है। मिसिर के बेटे को दागने के लिए ही वह राजनीति में आया है। मकबूल कम्युनिस्ट लीडर है हिन्दू होते हुए भी मुसलमान नाम रखने वाला, फरेबी, साम्यवादी सिद्धांतों की मनचाही व्याख्या करने वाला। सोशलिस्ट नेता भी यँ ही हैं। यदि कोई महान् व्यक्ति है तो वह है जित्तन। सभी दल जित्तन के विरोधी हैं। कोसी योजना को उसने सरकार के समक्ष प्रस्तावित किया है। सुचितलाल मंडल समाजवादी है। वह अपने व्यक्तिगत स्वार्थ और विद्वेषों के कारण संपूर्ण ग्रामीण जनता में अनावश्यक जोश फैलाकर झगड़ा करवाता है। भूदान का गलत अर्थ जनता को बताकर उन्हें गुमराह करता है। ग्राम-पंचायत के चुनाव में स्वार्थ सिद्धि के कारण अपने ही आदमी को खड़ा करता है। कुबेर सिंह के माध्यम से रेणु जी ने नगर-राजनीति की शून्यता और व्यवस्था पर भी प्रकाश डाला है।"¹⁸ वस्तुतः 'परती : परिकथा' में रेणु ने और गहराई से ग्रामीण राजनीति का चित्रण करते हुए दिखाया है कि किस प्रकार जमीन के लिए ग्रामीण जन राजनीतिक अवसरवादिता के नमूने बने हुए हैं।

दीर्घतपा या कलंक-मुक्ति

प्रस्तुत उपन्यास 'दीर्घतपा' अर्थात् कुमारी बेला गुप्त के हृदय के यथार्थ रूप का प्रत्ययकारी चित्रण है। डॉ. रेणु शाह के शब्दों में "दीर्घतपा" में तपी हुई नारी की कथा है जो देश की आजादी के नाम पर सब कुछ सह गई और बाँके की कायरता का फल बहुत दिनों तक भोगती रही।"¹⁹ उपन्यास की नायिका बेला गुप्त जीवन और संसार की मंगल कामना से प्रेरित होकर अपना पूरा जीवन समाज-सेविका के रूप में अर्पित कर चुकी है, और इसी चरित्र के माध्यम से उपन्यासकार यह प्रश्न पूछना चाहता है कि क्या यही वह आजादी है जिसके लिए अनगिनत लोगों ने अपने जीवन का बलिदान दिया, जेलें काटीं? जिस समाजवाद की चर्चा बड़े चाव से सभी पार्टियाँ करती रही हैं, उसी का व्यंग्यचित्र

सर्वत्र पर्यवसित होती देखी जा सकती है, जिसमें स्वार्थ-सिद्धि ने 'सत्यमेव जयते' का स्थान ले लिया है। चारों ओर राजनीतिक अराजकता का माहौल फैला हुआ है जिसमें अच्छाई पर से समाज के सभी वर्गों का विश्वास उठता जा रहा है और इसी का नमूना 'वर्किंग विमेंस होस्टल' है। डॉ. रेणु शाह के शब्दों में, "स्वतन्त्रता संग्राम की उथल-पुथल और 1947 में देश-विभाजन के बाद जो चारित्रिक गिरावट, अवसरवादिता, सुरा-सुंदरी के प्रति अनुराग, उच्छृंखलता, भोगवादी आदि कुप्रवृत्तियाँ आई हैं, उन्हीं को रेणु ने बांकीपुर के 'विमेंस वेलफेयर बोर्ड' संस्था के चित्रण के द्वारा अभिव्यक्त किया है। भ्रष्टाचार का जोर तो इस सीमा तक होस्टल में बढ़ा हुआ है कि पूँजीपति होस्टल के प्रबंधकों से मिलकर किसी भी लड़की को अपने मनोरंजन के लिए घर बुला सकता है और उन्हें हप्तों गायब कर सकता है।"²⁰

बेला पूर्णिया जिले के किशनगंज सब-डिविजन के अंगर्तत पड़ने वाले गाँव इस्लामपुर की लड़की है। बेला के पिता यहीं एक स्थानीय स्कूल में व्यायाम के शिक्षक थे। बेला इसी कारण पढ़ाई-लिखाई के अलावा खेल-कूद में भी उतनी ही होनहार थी। बचपन से ही उसमें राजनीतिक जागरूकता कूट-कूट कर भरी थी। बचपन से ही उसे क्रांतिकारियों की कहानी आदि सुनना अच्छा लगता था, इससे उसमें जोश आ जाता था। "क्रांतिकारियों की कहानियाँ सुनते देह बार-बार सिहरती!...जलियाँबाग में मदन गोपाल की टिकठी में बाँधकर, चूतड़ पर बेंत लगाते हुए चांडालों की वह रंगीन तस्वीर जिस दिन मिली, बेला रो पड़ी थी।...उस तस्वीर को देखकर घंटों रोती रहती...चूतड़ की चमड़ी उधड़ गई है। रक्त की धारा!...और, वह गीत? शहीदों की टोली निकली, सर बाँधे कफनियाँ जी! अजी-ई-ई, डायर के फायर से जबकि भूमि हुई थी लाल भाइयो, भूमि हुई थी लाल, कि जलियाँवाला बाग में जूझे प्यारे म-द-न-गो-पा-ल-है-है केलेजे बीच, हाय केलेजे बीच, गोली निकली-ई-ई-सिर बाँधे कफनियाँ जी!!"²¹ उसके मुँह से "कुँवर सिंह ने बिहार में किया महाहुंकार" आदि गीतों को सुनकर श्रोता फड़क उठते थे। उसे बम-बम खेलते हुए देखकर हाजी अब्दुल वदूद ने उसके पिता को आगाह किया था कि वे लड़की को सँभालें वरना मामला एक दिन उनके बूते से बाहर का हो जाएगा, "मास्टर साहब, अपनी बेटी को अब जरा सँभालिए। 'बम-बम' खेल खेलती है और वही कफनियाँ वाला गीत गाती है स्कूल में। लड़की को सँभालिए वरना मामला एक दिन बे-सँभाल भी हो सकता है..."²² जो परवर्ती काल में हुए भी, अर्थात् हाजी साहब की बात सच निकली। बेला अपने बाप के 'सँभाल' से बाहर हो गई एक दिन...अर्थात् बेला अपने ही गाँव के क्रांतिकारी बाँकेबिहारी के साथ भाग गई। पिता का प्रिय छात्र प्रियदर्शन, स्वस्थ तरुण बाँकेबिहारी जो उन दिनों काशी में पढ़ता था, जब गाँव आता बेला के घर आकर दर्जनों क्रांतिकारी कहानियाँ सुना जाता तथा पुस्तकें लाता और हारमोनियम पर नए गीत सुनाता। बेला को लगता कितने अच्छे हैं बाँके भैया... 'क्रांतिकारी पार्टी' में हैं। बाँके ने क्रांतिकारी दल के लिए महिला कार्यकर्ताओं की आवश्यकता बताई और बेला ने अपनी उंगली के खून से हस्ताक्षर करके क्रांतिकारी दल की सदस्यता स्वीकार कर ली, "...उसकी क्रांतिकारी

पार्टी की महिला कार्यकर्ता की सख्त जरूरत है।...बेला जैसी लड़की घर में कैद रहेगी तो 'भारत-माता' की बेड़ी कैसे टूटेगी?"²³ क्रांतिकारी दल या पार्टी की जरूरत पर वह घर से बेघर हुई और यहीं से उसके पोपली देश भक्ति की राजनीतिक त्रासदी का शिकार होना शुरू हुई।

उसकी पार्टी का नाम 'बिहार क्रांतिकारी पार्टी' था, जिसका मुख्यालय बनारस में था। पार्टी के नेता 'भाईजी को पहली बार बेला ने देखा कानपुर में, जिनकी दर्जनों कहानियाँ बेला सुन चुकी थी। उन्होंने पीठ थपथपाते हुए कहा था, "स्वतन्त्र भारत में सबसे पहले तुम्हारी आरती उतारी जाएगी।"²⁴ राजनीतिक त्रासदी उसका आश्वासन होता है। यहाँ भी पार्टी नेता ने बेला को शाबाशी दी, उसे कहा कि स्वाधीन भारत में उसकी आरती उतारी जाएगी। अब तो बेला के पाँव जमीन पर नहीं रहे। वह पार्टी के हर आदेश का पालन बड़ी तत्परता के साथ करती है। पार्टी के आदेश पर बेला बाँके के साथ पेशावर जाती है, जहाँ कोरोनाशनल होटल के सोलह नम्बर के कमरे में पार्टी को हथियार बेचने वाला अफरीदी सरफराज खान ने बाँके को कमरे से बाहर निकालकर बेला की इज्जत लूटी।

वस्तुतः देश-सेवा की जो लहर चली थी, उसमें सिर्फ देश-सेवा ही नहीं हो रही थी वरन मानसिक-शारीरिक भूख भी मिटाई जा रही थी, इस बात को ही यशपाल की तरह फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने भी अपने इस उपन्यास में स्थान दिया है।

जुलूस

'जुलूस' उपन्यास 1947 के विभाजन के परिणामस्वरूप विस्थापित हुए जिला मैमन सिंह के जुमापुर के हिन्दुओं की संघर्ष गाथा है, जिन्हें बिहार के पूर्णिया जिले में बसाया जाता है। उसे विस्थापित बंगाली नोबीन नगर कहते हैं। पड़ोसी गोड़ियर गाँव के बिहारी लोग इसे 'पाकिस्तानी टोला' कहते हैं। देश के बँटवारे के बाद बंगाल का एक हिस्सा ही पाकिस्तान बन गया, जहाँ से घर छोड़कर अनेकों लोग भारत में आ गए। ऐसे ही कुछ लोग हैं जिन्हें 'गोड़ियर' के पास बसाया गया है। जिस तरह यशपाल ने 'झूठा-सच' में विशाल कैनवास पर 'वतन और देश' की समस्या को अभिव्यक्त किया है उसी प्रकार रेणु ने बहुत ही सीमित और छोटे फलक पर उसकी सशक्त और मर्मस्पर्शी झाँकी प्रस्तुत की है। कथा का आरंभ वतन (बांग्ला देश) को छोड़कर देश (हिन्दुस्तान) में बसने वाली पवित्रा से होता है। उपन्यास में तत्कालीन भारत के राजनीतिक वातावरण का पता इस उद्धरण में मौजूद है,

"चौदह वर्ष बनवास के...।"

...चौदह वर्ष हुए स्वराज्य के।...लगता है कल की बात हो। जुलूस की याद ताजा है अभी भी। दो-दो बार आम चुनाव हो चुके हैं। देश में बड़े-बड़े काम हो रहे हैं। ब्लौक, कम्युनिटी हाल, बी.डी.ओ., वी.एल.डब्ल्यू., सोशल आर्गनाइजर, एम.ओ.पी.ओ बहुत सारे 'ओ' वाले शब्दों का प्रचलन हो गया है। हर मैट्रिक फ़ैल नौजवान राजनीति में

दाखिल हो गया है और प्रत्येक मिडिल पास कंट्राक्टरी के सपने देखता रहा है सोते-जागते, उठते-बैठते किसी कांग्रेसी बाबू का गुणगान करता है।...आम चुनाव सामने है। प्रत्येक खादीधारी उम्मीदवार है और टिकट की पैरवी के लिए देश के कोने-कोने में पैंतरे बाँधे जा रहे हैं।...बड़े और पुराने नेताओं की अकाल मृत्यु से देश हर महीने अनाथ होता है। नेहरू जी अकेले पड़ते जा रहे हैं। उनके सभी पुराने और सच्चे साथी, बहादुर कामरेड प्रस्थान कर रहे हैं।...रोशनी बुझ रही है एक-एक कर।”²⁵

उपन्यास की नायिका पवित्रा अक्सर सोचती है कि पूर्णिया के इस गाँव और जुमापुर में कोई फर्क नहीं है। जुमापुर का देढ़ा पेड़...सब कुछ वही है, वैसा ही है शैतानों का जुलूस। जुमापुर में उसने एक जुलूस देखा था जिसमें कासिम भाले के नोक पर विनोद का कटा सिर लेकर सबसे आगे था। नबी नगर में भी वही शैतानों का जुलूस है और पवित्रा जानती है कि नरेश के रूप में विनोद दुबारा मिल तो गया है पर कासिम उसे जिन्दा नहीं छोड़ेगा। पवित्रा का यह भयातुर मन विभाजन की त्रासदी, सांप्रदायिकता की आग में जल रहे देश और समाज की त्रासदी है।

वस्तुतः विभाजन की त्रासदी ने विस्थापितों को हर तरह से लूट लिया है। पूर्व बंगाल से विस्थापित होकर आए हिन्दुओं (शरणार्थियों) में मुस्लिम द्वेष स्वभावतः ही घर कर गया है। कारण, मुसलमानों की वजह से ही उनको अपना घर-बार छोड़ना पड़ा। ‘नबी नगर’ का नाम बिहार के पुनर्वास उपमंत्री ‘मुहम्मद इस्माइल नबी’ के नाम पर हुआ, पर शरणार्थी उसे ‘नोबिन नगर’ समझते हैं और इस वजह से इस नाम का विरोध नहीं हुआ। वरना एक मुसलमान के द्वारा किया गया शिलान्यास और मुसलमान के नाम पर ही गाँव का नामकरण उन्हें अवश्य खटकता। गाँव के स्कूल के लिए मुसलमान मास्टर के आने पर विस्थापितों की आँखों में लाल डोरे उतर आए थे। जुलूस की मानसिक भूमि स्पष्ट करते हुए उपन्यासकार रेणु ने लिखा है

“दिन-रात, सोते-उठते, खाते-पीते मुझे लगता है कि विशाल जुलूस के साथ चल रहा हूँ...इस भीड़ से अलग होने की सामर्थ्य मुझ में नहीं। इस जुलूस में चलने वाले नर-नारियों से मेरा परिचय नहीं। लेकिन...मैं छिटककर अलग नहीं हो सकता।” वस्तुतः यह जुलूस सन् ‘47 के स्वाधीनता प्राप्ति का जुलूस है। इस जुलूम में सम्मिलित होने वाली जनता सुराज्य की आशाओं और सपनों को अपने दिल में संजोए हुए थी, परंतु स्वाधीनता पाए चौदह वर्ष बीत चुके हैं, “चौदह वर्ष वनवास के...चौदह वर्ष हुए स्वराज्य के...तीर के वेग से एक तारा चल रहा है आकाश में रूस का स्युतनिक!!”²⁶

और इन चौदह वर्षों के भीतर दो-दो आम-चुनाव हो चुका है, आठ-दस महीने बाद तीसरा आम चुनाव होने वाला है। देश इन चौदह वर्षों में आगे जितना आगे बढ़ा है इससे ज्यादा पीछे। सारे खादीधारी लोग चुनावी टिकट को पाने के लिए भाग-दौड़ कर रहे हैं।

कितने चौराहे

यह उपन्यास ‘रेणु’ के औपन्यासिक विषय-वस्तु में नवीनता जोड़ते हुए एक ‘विशुद्ध राजनीतिक उपन्यास’ है। इसमें सन् 1933-38 के राजनीतिक भारत का चित्रण है। इस कालावधि में भारतीय युवा-वर्ग जंजीरों और दासता में जकड़े भारत माता को स्वतन्त्र कराने के लिए संघर्षरत था। भगत सिंह और उसके साथियों को मिली फाँसी की सजा से नवयुवक पीढ़ी भड़क उठी थी, उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा, “इस बार हिमालय को फोड़ कर आग निकलने वाली है। इस बार कुछ होकर ही रहेगा। अपने-अपने क्षेत्र में सभी को तैयार रहना है।”

बिहार के अररिया कोर्ट के राजनीतिक जीवन को बड़ी खूबी के साथ रखते हुए उपन्यासकार ‘रेणु’ ने अपने इस उपन्यास में आज के युवा पीढ़ी के लिए भी देश-प्रेम की भावना को पुनर्जीवित कर लिया है, “गाँधीजी की सत्य, सेवा एवं अहिंसा पर आधुनिक नीति एवं भगत सिंह जैसे देश-भक्त क्रांतिकारियों के संघर्ष से 1965 के पाकिस्तानी आक्रमण तक यह राष्ट्र एक के बाद एक कितने चौराहों को पार करता गया, इस वास्तविकता का यथार्थ चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। कुछ स्वार्थी तत्त्व हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के नाम पर लूट-खसोट चाहते रहे हैं किंतु नवनिर्मित राष्ट्र ज्वलंत समस्याओं का सामना करता हुआ, राह में आई बाधाओं का निवारण करता आगे बढ़ता गया है। कितने ही चौराहों को पार करते अपने गंतव्य तक पहुँचा है।”

मनमोहन जहाँ रहकर शिक्षा ग्रहण कर रहा है अर्थात् जिस व्यक्ति (मोहरिल मामा) के यहाँ वह रह रहा है उसके घर में उनकी पत्नी, बेटे मटरू के अलावा ‘साइमन गो बैक’ के दौरान मारे गए व्यक्ति की विधवा और उनकी बेटी शरबतिया रह रही है। यहाँ मनमोहन के जीवन में आकर्षण-विकर्षण का जाल फैलना चाहता है मगर मनमोहन ने साफ अपने-आप को समेटकर देश के प्रति अपने-आपको समर्पित कर दिया है। वह न तो उस मामा की बेटी शरबतिया के चक्कर में ही पड़ता है और न ही अपने मित्र की बहन नीलिमा के स्नेह और प्रेम में ही पड़ता है, जबकि वे दोनों बालाएँ उसे बार-बार अंदर से आकर्षित कर रही हैं। जीवन के चौराहे पर मनमोहन दोनों बालिकाओं के प्रेम का अतिक्रमण कर अपने देश-प्रेम के जुनून में आगे बढ़ता रहता है।

भगत सिंह के त्याग, बिहार-भूकम्प, हिन्दू-मुस्लिम दंगे सभी देशीय घटनाओं में वह सर्वश्रेष्ठ सेवा-भाव का परिचय देता है। उपन्यास में हम देखते हैं कि किस प्रकार राष्ट्रीय झंडा फहराने के क्रम में नीलिमा द्वारा पकड़ लिए जाने के कारण वह अनेक वर्षों तक ग्लानि की आग में जल रहा होता है। उपन्यास में ‘रेणु’ बाद में उसके राष्ट्रीय प्रेम के पर्यवसान को इश्वरोन्मुखी होते दिखाते हैं। देहरादून के स्टूडेंट्स होम के संचालक के रूप में मनमोहन स्वामी सच्चिदानंद बनकर विद्यार्थियों को शिक्षित-दीक्षित कर रहा होता है जो कि प्रकारांतर से देश-सेवा ही मानी जाएगी। मनमोहन के मन का सारा लोभ वर्ष 1965 के भारत-पाक युद्ध में अपने भाई ‘फ्लाइट लेफ्टिनेंट’ जनमोहन की वीरगति प्राप्त करने के साथ खत्म हो जाता है।

कुल जमा अनेकों चौराहे से गुजरता मनमोहन देश के प्रति अपने कर्तव्य को संपूर्ण करने की कोशिश में लगा होता है। अगर संक्षेप में हम पूरे उपन्यास के बारे में कहना चाहें तो पंडित विष्णुकांत शास्त्री को उद्धृत किया जा सकता है, “स्पष्टतः इस उपन्यास का मूल उद्देश्य व्यक्तिगत सुख-दुःख, स्वार्थ-मोह से ऊपर उठकर देश के लिए आत्मोसर्ग करने वालों की मानवीय संवेदनशील रूप को उभारना और पाठकों के मन में उनके प्रति श्रद्धा जगाना है ताकि वह परम्परा कायम रह सके। चारों तरफ फैले हुए आज के भ्रष्टाचार को, व्यक्ति-सीमित स्वार्थपरता को देखते हुए उस परम्परा की आवश्यकता का और गहरा तीखा बोध जाग उठता है पाठक के मन में। इस दृष्टि से यह उपन्यास निश्चय ही सफल है।”²⁸ वस्तुतः यह राजनीति के उज्ज्वल पक्ष को चित्रित करनेवाला उपन्यास है।

पल्लू बाबू रोड

1979 में प्रकाशित फणीश्वरनाथ 'रेणु' का यह अंतिम उपन्यास है। कथा का केंद्र अमलेंदु राय उर्फ लट्टू बाबू की कोठी 'फूल बागान' है, और वह ठेकेदार व सप्लायर है। राय परिवार का लोहा, सीमेंट, चूना आदि का व्यापार चलता है तथा प्रतिष्ठान का नाम है, 'राय एंड ब्रदर्स कांटेक्ट एंड सप्लायर्स', जिसका महल 'बिजली' नामक युवती के ऊपर टिका है जो अमलेंदु बाबू की भतीजी है। लट्टू बाबू ने बिजली को पर्सनल एसिस्टेंट रखा है। अपने व्यापार के प्रति कृपा दृष्टि प्राप्त करने हेतु लट्टू बाबू बिजली का पूरा इस्तेमाल करते हैं, और इस्तेमाल करते हैं बाकी दो बच्चियों 'छवि' और 'कना' का भी जो उनके घर में सब कुछ देख रही हैं और समझ रही हैं। बिजली अपने व्यापार को चलाने के लिए बहुत से बुरे-भले काम करती है, या कहा जाय कि करने को बाध्य है। बिजली के प्रेमियों में छोगमल, मुरलीमनोहर जैसे लोग भी हैं।

उपन्यास में 'रेणु' ने राजनीति समेत कई महत्वपूर्ण क्षेत्रों में व्याप्त अवैध सेक्स और भ्रष्टाचार का यथार्थ चित्रण किया है। 1947 में देश विभाजन और स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद विस्थापितों की समस्या सामने आई, जिन कुछ परिवारों का खलन हुआ, उन परिवारों ने वित्तीय दशा सुधारने के लिए नैतिकता की भी कुर्बानी दी। 'रेणु' ने इस उपन्यास में स्वाधीनता के बाद के राजनीतिक मोहभंग की स्थिति का वर्णन किया है जिसमें स्वार्थ के दल-दल में फंसकर राजनेताओं ने राजनीति को एक व्यवसाय बना दिया, जो लेन-देन के सिवाय और कुछ भी न रहा। डॉ. दिनेश्वर प्रसाद के शब्दों में कहा जा सकता है, “जीवन-मूल्यों के क्षरण और विघटन की प्रक्रिया का दूसरा रूप है आज की राजनीति।”²⁹ बैरगाछी के एक मात्र 'राजनीतिक परिवार', राय परिवार के माध्यम से कांग्रेसी और समाजवादी पार्टियों के खोखले, नैतिकताहीन, प्रचारक स्वरूप को उभारकर 'रेणु' ने तत्कालीन राजनीति के यथार्थ रूप की बखिया उधारी है, “सभा खत्म होने के बाद मुरलीबाबू ने सभापति जी से लट्टू बाबू तथा परिवार के अन्य लोगों का परिचय करवाते हुए कहा इस कस्बे का एकमात्र पोलिटिकल परिवार है।”³⁰

राय परिवार में मुरली मेहता के माध्यम से कांग्रेस का प्रवेश होता है, जो कि 'जिला कांग्रेस कमिटी' का मंत्री है, “मुरली मनोहर मेहता को आप जानते हैं? छोगमल के इस प्रश्न पर बिजली और लट्टू बाबू की आँखें चार हुईं। छोगमल बोला यह बेटा मुरली मनोहर, एक ही साथ सब कुछ है कांग्रेसी भी, सोशलिस्ट भी, मजदूर लीडर और अखबारवाला भी। साला बोलता कम है, काटता है ज्यादा। सो इसको यदि किसी तरह काबू में लाया जा सके तो...समझिए कि उत्तर-दक्खिन, पूरब-पश्चिम सब ओर से निश्चित! क्योंकि नया एस.डी.ओ जो आ रहा है, उसके बारे में खबर मिल चुकी है कि आदमी 'खाने-पीने वाला है। लेकिन कांग्रेसियों से बहुत डरता है।”³¹ मुरली मनोहर मेहता के लिए फूल-बागान ही जिला कांग्रेस का मुख्यालय हो जाता है,

स्वतन्त्रता के बाद जहाँ एक ओर देश में औद्योगीकरण की प्रवृत्ति विकसित हुई वही बहुदलीय गंदी राजनीति का भी विकास हुआ। सोसलिस्ट पार्टी की बात की जाए तो राय परिवार में सोशलिस्ट पार्टी पल्लू बाबू और गोधन की प्रेरणा से प्रवेश करती है। इस परिवार के सदस्य घंटा और छवि मिलकर इस पार्टी का काम करते हैं। अन्याय और शोषण का विरोध करने वाली इस 'तथाकथित' पार्टी का गठन ऐसे लोगों द्वारा ही किया जाता है जिनका सोशलिस्ट विचारधारा से कोई संबंध नहीं होता है। सोशलिस्ट पार्टी के नेताओं का अविर्भाव गोधन और घंटा के तरह ही होता है। कहने का आशय है कि इसी प्रकार के लोग आते हैं जिनका सोशलिस्ट शब्द से कोई नाता नहीं है। 'रेणु' ने सांप्रदायिक राजनीति का भी यथास्थान चित्रण किया है, “यूनूस मियाँ चार साल पहले तक बाबू भोला सहाय की कोचवानी करता था। सुराज के दूसरे ही दिन वकील साहब ने जवाब दे दिया।...बाईस साल की नौकरी!”³² जाहिर-सी बात है कि राजनीतिक भावदर्श ही इस उपन्यास में भी प्रबल रूप से दिखाई देते हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि रेणु के सभी उपन्यास उनके राजनीतिक जीवन के साहित्यिक संस्करण हैं।

सन्दर्भ

1. सारिका, मार्च, 1979, पृ. 83।
2. 'आदर्श', ब्रजभूषण सिंह, हिन्दी के राजनीतिक उपन्यासों का अनुशीलन, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, 1970, पृ. 403।
3. रेणु, फणीश्वरनाथ (सं. भारत यायावर) रेणु रचनावली, खण्ड 1, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007 पृ. 22।
4. वही, पृ. 442।
5. वही, पृ. 431।
6. वही, पृ. 442।
7. वही, पृ. 456।
8. कौल, डॉ. हरिकृष्ण, फणीश्वरनाथ रेणु की कहानियाँ : शिल्प और सार्थकता, रागत दिल्ली, 1989, पृ. 3।

9. ठाकुर, खगेंद्र उपन्यास की महान परम्परा, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ. 87।
- 9a. Howe Irving, Politics and the Novel, Horizzor Press, New York, 1957; p.19
10. श्रीवास्तव, डॉ. परमानंद, मैला आँचल : पुनर्पाठ, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007, पृ. 99।
11. रेणु, फणीश्वरनाथ (सं. भारत यायावर) रेणु रचनावली, खण्ड 2, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 124।
12. वही, पृ. 126।
13. वही, पृ. 24-25।
14. प्रेम सिंह, (सं.) श्रीवास्तव, डॉ परमानंद, मैला आँचल : पुनर्पाठ, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007, पृ.114।
15. रेणु, फणीश्वरनाथ (सं. भारत यायावर) रेणु रचनावली, खण्ड 2, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 326।
16. रेणु, फणीश्वरनाथ (सं. भारत यायावर) रेणु रचनावली, खण्ड 2, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 328।
17. वही, पृ. 323 '24।
18. शाह, डॉ. रेणु, फणीश्वरनाथ रेणु का कला-शिल्प, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 1990, पृ. 34।
19. वही, पृ. 31।
20. वही, पृ. 38।
21. रेणु, फणीश्वरनाथ (सं. भारत यायावर) रेणु रचनावली, खण्ड 3, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 340।
22. वही, पृ. 351।
23. वही, पृ. 351।
24. वही, पृ. 352।
25. वही, पृ. 372।
26. वही, पृ. 172।
27. शाह, डॉ. रेणु, फणीश्वरनाथ रेणु का कथा-शिल्प, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 1990, पृ. 39।
28. तिवारी, सियाराम (सं.) 'रेणु' कर्तृत्व और कृतियाँ, नवनीता प्रकाशन पटना, 1983, पृ. 270 (ड)
29. वही, पृ. 272।
30. रेणु, फणीश्वरनाथ (सं. भारत यायावर) रेणु रचनावली, खण्ड 3, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 43।
31. वही, पृ. 34।
32. वही, पृ. 52।

पाठकीय प्रतिक्रिया

पत्रिका का जनवरी-मार्च अंक मिला। आज ही नरेन्द्र मोदी जीते हैं और यह एक नये युग का आरम्भ है। आपके सम्पादकीय में लिखा है कि हमारे परम्परागत जीवन-मूल्यों तथा प्रदत्त-ज्ञान की रक्षा होनी चाहिए और वर्तमान जीवन-शैली, सोच के बदलने के साथ निजता की रक्षा होनी चाहिए। मैं समझता हूँ, मोदी सरकार की भी वही चिन्ताएँ हैं जो आपकी हैं तथा हम सबकी हैं। जो लोग देश को अमरीका बनाना चाहते हैं, वे देश की निजता एवं अस्मिता को नष्ट कर रहे हैं। इस अंक के कई लेखों में इन्हीं चिन्ताओं का विवेचन है, और भारतीयता की पहचान की चेष्टा है। कैलाशचन्द्र पंत का तो लेख ही भारतीयता की पहचान पर है। शंकर शरण का लेख 370 धारा पर है जिसे मोदी ने अपने एक भाषण में उठाया था। मैं नहीं समझ पाता, कश्मीर के लिए इस धारा की क्या आवश्यकता है? इस धारा के कारण कश्मीर में अलगाव तथा आतंक का वातावरण बना है और उसे एक स्वतंत्र देश बनाने की साजिश है। मैं समझता हूँ, आने वाले समय में 370 पर बहस होनी चाहिए तथा इसके लाभ-हानि पर विचार होना चाहिए।

- डॉ. कमल किशोर गोयनका, ए-98, अशोक विहार,
फेज-प्रथम, दिल्ली-110052।

मैं पिछले कुछ समय से चिन्तन-सृजन देखता आया हूँ। आपको एक अच्छी पत्रिका निकलने पर शुभ कामनाएँ।

- आस्तीक बाजपेयी, एफ 90/45 तुलसी नगर, भोपाल-462003(म.प्र.)।

मैं आपकी सम्पादित पत्रिका 'चिन्तन-सृजन' पढ़कर बहुत प्रभावित हुयी हूँ।

- प्रणीता दास, शांतिपूर, गुवाहाटी (आसाम)।

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँ

पुस्तकें:

उपनिषदों का नीति-दर्शन, डॉ. सन्तोष आचार्य; प्रकाशक: देवेन्द्रराज मेहता, संस्थापक एवं मुख्य संरक्षक, प्राकृत भारती अकादमी, 13-ए, गुरुनानक पथ, मेन मालवीय नगर, जयपुर-302017; प्रथम संस्करण: 2014 ई.; पृष्ठ: 220; मूल्य: 250 रुपये।

डिस्कवरी ऑफ पूर्वोत्तर, संजीव रंजन; प्रकाशक: विजया बुक्स, 1/10753 सुभाष पार्क, गली नं. 3, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032; प्रथम संस्करण: 2014; पृष्ठ: 208; मूल्य: 450 रुपये।

हारे को हरिनाम, बसंत कुमार राय; प्रकाशक: नमन प्रकाशक, 4231/1, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002; प्रथम संस्करण: 2011; पृष्ठ: 162; मूल्य: 250 रुपये।

ध्रुवान्तर, उपन्यास (भारतीय युवा-मन की अग्नि-गाथा), डॉ. मधुकर गंगाधर; प्रकाशक: मुकुल प्रकाशन, रघुवंशी निकेतन, सानिध्य श्री आद्या कात्यायनी शक्तिपीठ मन्दिर, छत्तरपुर, मेहरौली, नई दिल्ली-110074; प्रथम संस्करण: 2014 ई.; पृष्ठ: 144; मूल्य: 250 रुपये।

सरोवर गाथा (उपन्यास), डॉ. किशोरी लाल व्यास; प्रकाशक: डॉ. किशोरीलाल व्यास नीलकंठ, ६-1, रत्ना रेसिडेंसी, माहेश्वरी नगर, हब्शीगुडा, हैदराबाद-500007; प्रथम संस्करण: जून: 2012; पृष्ठ: 144; मूल्य: 150 रुपये।

पत्रिकाएँ:

अकार, विचारशीलता और बौद्धिक हस्तक्षेप की पत्रिका; अंक-37, वर्ष-13 अंक 3 दिसंबर 2013 से मार्च 2014; सम्पादक: प्रियंवद; प्रकाशक: अकार प्रकाशन, 15/269, सिविल लाइन्स, कानपुर-208001; पृष्ठ: 160; मूल्य: 40 रुपये।

*We Strive
to Satisfy
Our Customers*

VASUNDHARA MARKETING CO.

Sales Tax No. LC/13/017261/1080

☎ 3277883 (Off.)

Regd. Office
**1/3575, Netaji Subhash Marg
Darya Ganj, New Delhi-110002**

With Best Compliments

from

VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.

Administrative Office
LG-69, World Trade Centre,
Babar Lane, New Delhi-110001

Regd. Office
1/3575, Netaji Subhash Marg,
Darya Ganj, New Delhi-110002
Phone Off. 3277883, 3711848

चिन्तन-सृजन का स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

फार्म 4

नियम 8

1. प्रकाशन स्थान : दिल्ली
2. प्रकाशन अवधि : त्रैमासिक
3. स्वामी : आस्था भारती, नई दिल्ली
4. मुद्रक : राजेश भार्गव
कार्यकारी सचिव, आस्था भारती
(क्या भारत के निवासी हैं?)
हाँ, भारतीय
पता : 27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110096
5. प्रकाशक : राजेश भार्गव
कार्यकारी सचिव, आस्था भारती
(क्या भारत के निवासी हैं?)
हाँ, भारतीय
पता : 27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110096
6. सम्पादक : डॉ. बी. बी. कुमार
सम्पादक, आस्था भारती
(क्या भारत के निवासी हैं?)
हाँ, भारतीय
पता : 27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110096

मैं राजेश भार्गव घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी जानकारी
और विश्वास के अनुसार सही है।

(ह.) राजेश भार्गव

प्रकाशक

18.6.2014

Dialogue
Quarterly English Journal of Astha Bharati, Delhi since July 1999

Special Numbers:

- Vol. 3:3: Illegal Migration from Bangladesh
- Vol. 3:4: Central Asia
- Vol. 4:1: Fiscal Mis-management in North East India
- Vol. 4:2 Maoist Insurgency in Nepal and India
- Vol. 4:3 India: Security Dimensions
- Vol. 4:4 Indian Islands: Andaman & Nicobar Islands and Lakshadwip
- Vol. 5:1 South-East Asia
- Vol. 5:2 Secularism: India in Labyrinth
- Vol. 5:3 India's Neighbourhood
- Vol. 5:4 Governance in the North-East
- Vol. 6:1 Policing in India
- Vol. 6:2 India and Central Asia
- Vol. 6:3 Population Issues
- Vol. 6:4 Naxalism
- Vol. 7:1 Indo-Pakistan Relations & Kashmir
- Vol. 7:2 Media in India
- Vol. 7:3 India's North East
- Vol. 7:4 India: Political Culture, Governance & Growth
- Vol. 8:1 Understanding India
- Vol. 8:2 India's Internal Security
- Vol. 8:3 India's Interface with East Asia
- Vol. 8:4 Education in India
- Vol. 9:1 India's eastern Neighbourhood & 'Look East' Policy
- Vol. 9:2 Caste, Community and Social Justice
- Vol. 9:3 India's Encounter with the West
- Vol. 9:4 India: Security Scene
- Vol. 10:1 Kashmir
- Vol. 10:2 Bangladesh
- Vol. 10:3 India's North-East
- Vol. 10:4 Himalayan Region
- Vol. 11:1 India's Neighbourhood
- Vol. 11:2 Terrorism/Insurgencies in India: Perception & Reality
- Vol. 11:3 India: Women Related Issues
- Vol. 11:4 China
- Vol. 12:1 Media in India
- Vol. 12:2 Gandhi & Hind Swaraj
- Vol. 12:3 North-East India
- Vol. 12:4 Education in India
- Vol. 13:1 India and Asia: Cultural Continuum
- Vol. 13:2 Bureaucracy and Governance in India
- Vol. 13:3 Afghanistan
- Vol. 13:4 Indian Scholarship in Humanities and Social Sciences:
Its Achievements, Status and Linkage
- Vol. 14:1 Positives and Negatives of Indian Politics
- Vol. 14:2 Tibet
- Vol. 14:3 The Energy Security Scenario
- Vol. 14:4 India: Human Rights Issues
- Vol. 15:1 India's Chronological Antiquity
- Vol. 15:2 Panchayati Raj in India
- Vol. 15:3 Central Asia Revisited
- Vol. 15:4 Globalization, Modernisation and National Identity